अपरा

निराला

ग्रन्थ-संख्या	२४३
दसवाँ संस्करण	सन् १९७२
मूल्य	चार रुपये
प्रकाशक तथा विक्रेता	भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद
मुद्रक	लीडर प्रेस, ३ लीडर रोड, इलाहाबाद

के लिए अपनी उग्र गति से घेर लेना, चिर-निश्चित लक्ष्य पर जमी हमारी दृष्टि को पल भर के लिए अपनी दिशा में फेर लेना ही उसका हमसे परिचय है और काव्य का जीवन से यही परिचय अपेक्षित भी है।

उन्होंने अनेक आघात सहे हैं, जो उनके संवेदनशील व्यक्तित्व पर अमिट चिह्न छोड़ गये हैं। यदि इन चिह्नों को हम उनके संघर्ष का प्रमाण मानें, तो उनकी आत्मा के सहजात संस्कार समझ लेना तथा उनके काव्य की भावभूमि और उसकी मूलगत प्रेरणा तक पहुँच जाना सहज हो जायगा।

आज का युग साहित्यकार के लिए दो धारवाली असि बन गया है—यदि वह विषम परिस्थितियों से समझौता करके जीवन की सुविधाएँ प्राप्त कर लेता है, तो उसका साहित्य मर जाता है और यदि वह ऐसी संधि को स्वीकृति नहीं देता, तो उसका जीवन कठिन हो जाता है। कवि निराला ने अपने अदम्य विद्रोह की छाया में एक को बचा लिया है, दूसरे को सुरक्षित रखने का प्रश्न उनसे अधिक उनके सहयोगियों से संबंध रखता है।

आज की विषम परिस्थितियों में साहित्यकारों को पारस्परिक सहानुभूति का नैतिक बल तथा सहयोग का लौकिक बल मिल सके, इसी को लक्ष्य बनाकर साहित्यकार-संसद की स्थापना हुई थी—अपरा का प्रकाशन लक्ष्य की दिशा में हमारा एक पग है।

अपरा को ऐसा बहिरंग नहीं प्राप्त हो सका, जिसका उसके अंतरंग से पूर्ण तादात्म्य होता– परन्तु रूप प्राण का परिचयवाहक मात्र है, परिचय नहीं। इस दृष्टि से अपरा के यशस्वी कवि का गौरव इसमें सुरक्षित है।

अपरा का पूर्व प्रकाशन गत छठे संस्करण तक, साहित्यकार-संसद के द्वारा संपन्न हुआ है। वर्तमान सातवें संस्करण में, भारती भंडार के अंतर्गत इस कृति को प्रकाशित करते हुए हम स्वयं को हर्षान्वित अनुभव करते हैं।

—प्रकाशक

निर्देशिका

पंक्ति | पृष्ठ

अपरा

बादल राग

तिरती है समीर-सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया—
यह तेरी रण-तरी,
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी-गर्जन से सजग, सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नव जीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल !
फिर फिर !
बार-बार गर्जन,
वर्षण है मूसलधार,
हृदय थाम लेता संसार,
सुन-सुन घोर वज्र-हुंकार ।
अशनि-पात से शायित उन्नत शत-शत वीर,
क्षत-विक्षत-हत अचल-शरीर,
गगनस्पर्शी स्पर्द्धा-धीर ।
हँसते हैं छोटे पौधे लघु-भार—
शस्य अपार,

हिल-हिल,
खिल-खिल,
हाथ हिलाते,
तुझे बुलाते,
विप्लव रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।
अट्टालिका नहीं है रे
आतंक-भवन,
सदा पंक ही पर होता जल विप्लव-प्लावन
क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से सदा छलकता नीर,
रोग-शोक में भी हँसता है शैशव का सुकुमार शरीर।
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना-अंग से लिपटे भी
आतंक-अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्रगर्जन से, बादल,
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण-बाहु, है शीर्ण-शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार,
हाड़मात्र ही हैं आधार,
ऐ जीवन के पारावार!

१९२० ई०

जुही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी—
स्नेह-स्वप्न-मग्न—अमल-कोमल-तनु-तरुणी
जुही की कली
दृग बन्द किये, शिथिल, पत्रांक में।
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर प्रिया-संग छोड़
किसी दूर-देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित् गहन-गिरि-कानन
कुञ्ज-लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ !

सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लडी जैसे हिंडोल ।
इस पर भी जागी नही,
चूक-क्षमा मांगी नही,
निद्रालस वकिम विशाल नेत्र मूंदे रही—
किम्वा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की,
कि झोको की झडियो से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौक पडी युवती,
चकित चितवन निज चारो ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी, खिली
खेल रग प्यारे सग ।

१६१६ ई०

जागो फिर एक बार

[१]

जागो फिर एक बार !
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार !
आँखें अलियों-सी
किस मधु की गलियों में फँसी
बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
अथवा सोई कमल-कोरकों में ?—
बन्द हो रहा गुञ्जार—
जागो फिर एक बार !
अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी-गन्धा जगी,
एक टक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय,
आशाओं भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रही चन्द्र को चाव से
शिशिर-भार-व्याकुल कुल
खिले फूल झुके हुए
आया कलियों में मधुर
मद-उर यौवन-उभार—
जागो फिर एक बार !

पिउ रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें, रातें मन-मिलन की,
मूंद रही पलकें चारु,
नयन-जल ढल गये,
लघुतर कर व्यथा-भार—
जागो फिर एक बार !
सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय, नयन-नीर
शयन-शिथिल-बाहें
भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन-मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो !
छूट-छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसारकामी केश-गुच्छ !'
तन-मन थक जायें,
मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन में मन, जी जी में,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में,
कब से मैं रही पुकार—
जागो फिर एक बार !
उगे अरुणाचल में रवि,

आई भारती-रति कवि-कण्ठ मे,
क्षण-क्षण मे परिवर्तित
होते रहे प्रकृति पट,
गया दिन, आई रात,
गई रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने ही हजार—
जागो फिर एक बार !

१९१८ ई०

[२]

जागो फिर एक बार !

समर मे अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु-से,
सिन्धु-नद-तीरवासी !—
सैन्धव तुरगो पर
चतुरग-चमू-सग;
"सवा-सवा लाख पर
एक को चढाऊँगा,
गोविन्दसिह निज
नाम जब कहाऊँगा ।"
किसी ने सुनाया यह
वीर-जनमोहन, अति
दुर्जय संग्राम-राग,
फाग का खेला रण
बारहो महीनो में ।
शेरो की माँद में,

आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार !
सत् श्री अकाल,
भाल-अनल धक-धक कर जला,
भस्म हो गया था काल,
तीनो गुण ताप त्रय,
अभय हो गये थे तुम,
मृत्युञ्जय व्योमकेश के समान,
अमृत-सन्तान ! तीव्र
भेदकर सप्तावरण—मरण-लोक,
शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ,
जहाँ आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक बार !
सिंही की गोद से छीनता है शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण ?,
रे अजान,
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है ।
किन्तु क्या ?
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नही,

गीता है गीता है,
स्मरण करो बार-बार—
जागो फिर एक बार !
पशु नहीं, वीर तुम;
समर-शूर, क्रूर नहीं ;
कालचक्र में हो दबे,
आज तुम राजकुँवर,
समर सरताज !
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप ।
महा-मन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूँका हुआ,
"तुम हो महान्
तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीनभाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम,
पदरज भर भी है नहीं,
पूरा यह विश्वभार"—
जागो फिर एक बार !

१९२१ ई०

शरण में जन जननि

गीत

अनगिनित आ गये शरण में जन, जननि,
सुरभि सुमनावली खुली, मधुऋतु अवनि।
स्नेह से पंक-उर हुए पंकज मधुर,
ऊर्ध्व-दृग गगन में देखते मुक्ति-मणि।
बीत रे गई निशि, देश लख हँसी दिशि
अखिल के कण्ठ की उठी आनन्द ध्वनि।

१९२९ ई०

पावन करो नयन

गीत

पावन करो नयन।
रश्मि, नभ-नील-पर,
सतत शत रूप धर
विश्वछवि में उतर,
लघुकर करो चयन।
अतनु, शरदिन्दु-वर,
पद्म-जल-विन्दु पर,
स्वप्न-जागृति सुघर,
दुख-निशि करो शयन।

१९३० ई०

सन्ध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे ।
तिमिराञ्चल मे चञ्चलता का नही कही आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनो उसके अधर,—
किन्तु जरा गम्भीर,—नही है उनमे हास-विलास ।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालो से,
हृदयराज्य की रानी का वह करता है अभिषेक ।
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली ।
नही बजती उसके हाथो मे कोई वीणा,
नही होता कोई अनुराग-राग आलाप ,
नूपुरो मे भी रुनझुन-रुनझुन नही,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप"
है गूँज रहा सब कही—
व्योम-मण्डल मे—जगतीतल मे—

सोती शान्त सरोवर पर उस अमल-कमलिनी-दल मे—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अतिविस्तृत वक्षस्थल मे—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल मे—
उत्ताल-तरगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि प्रवल मे—
क्षिति मे—जल मे—नभ मे—अनिल-अनल मे—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप"
है गूँज रहा सब कही,—
और क्या है ? कुछ नही ।
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवो को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती,
सुलाती उन्हे अक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह अगणित मीठे सपने,
अर्धरात्रि की निश्चलता मे हो जाती जब लीन,
कवि का बढ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कठ से
आप निकल पडता तब एक विहाग ।

१६२१ ई०

यामिनी जागी

गीत

(प्रिय) यामिनी जागी।
अलस पंकज-दृग अरुण-मुख
तरुण - अनुरागी।
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित—
द्युति ने क्षमा माँगी।
हेर उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक,-चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जयमाल,
वासना की मुक्ति, मुक्ता
त्याग में तागी।

१९२७ ई०

वसन्त आया

गीत

सखि, वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द बन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।
लता-मुकुल हार गन्ध-भार भर
वही पवन बन्द मन्द मन्दतर,
जागी नयनों में वन—
यौवन की माया।
आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे,
स्वर्ण-शस्य-अञ्चल
पृथ्वी का लहराया।

१६२८ ई०

शेष

सुमन भर न लिये
सखि, वसन्त गया।
हर्ष-हरण-हृदय
नहीं निर्दय क्या?
विवश नयनोन्मादवश हँसकर तकी,
देखती ही देखती री मैं थकी,
अलस पग, मग में ठगी-सी रह गई,
मुकुल-व्याकुल श्री-सुरभि वह कह गई—
"सुमन भर न लिये,
सखि, वसन्त गया।
हर्ष-हरण-हृदय,
नहीं निर्दय क्या?
याद थी आई,
एक दिन जब शान्त
वायु थी, आकाश
हो रहा था क्लान्त,
ढल रहे थे मलिन-मुख रवि, दुर-किरण
पद्म-मन पर थी, रहा अवसन्न वन,
देखती वह छवि गली में, साथ वे
चल रहे थे हाथ में वह हाथ ले—

"एक दिन होगा,
जब न मैं हूँगा,
हर्ष-हरण हृदय
नहीं निर्दय क्या !?"

१६२१ ई०

नवल खुलीं

गीत

दृगों की कलियाँ नवल खुलीं,
रूप - इन्दु - से सुधा-बिन्दु लह,
रह-रह और तुलीं।
प्रणय-श्वास के मलय-स्पर्श से
हिल-हिल हँसती चपल हर्ष से
ज्योति-तप्त-मुख, तरुण वर्ष के
कर से मिलीं-जुलीं।
नहा स्नेह का सरस सरोवर
श्वेत-वसन लौटीं सलाज घर,
अलख सखा के ध्यान-लक्ष्य पर
डूबी, अमल धुलीं।

१६२६ ई०

प्रभाती

प्रिय, मुद्रित दृग खोलो।
गत स्वप्न-निशा का तिमिर-जाल
नव किरणो से धो लो।
जीवन-प्रसून वह वृन्तहीन
खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर
वह चली चतुर्दिक कर्मलीन
तुम भी निज तरुण तरग खोल
नव अरुण-सग, हो लो।
वासना-प्रेयसी बार-बार
श्रुति-मधुर मन्द स्वर से पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के
जीवन मे प्रिय, आई बहार,
बहती इस विमल वायु में
वह चलने का बल तो लो।

१९२४ ई०

तोड़ती पत्थर

वह तोडती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोडती पत्थर।
नही छायादार
पेड वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौडा हाथ,
करती बार-बार प्रहार,—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ रही थी धूप;
गर्मियो के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप,
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यो जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई,
प्राय हुई दुपहर—
वह तोडती पत्थर।
देखते देखा, मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्न-तार;
देख कर कोई नही,

देखा मुझे उस दृष्टि से ,
जो मार खा रोई नही,
सजा सहज सितार,
सुनी मैने वह नहीं जो थी सुनी झकार ।
एक छण के बाद वह कांपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यो कहा—
"मैं तोडती पत्थर।"

१६३५ ई०

दे मै करूँ वरण

गीत

दे, मैं करूँ वरण
जननि, दुखहरण पद-राग-रञ्जित मरण ।
भीरुता के बँधे पाश सब छिन्न हों,
मार्ग के रोध विश्वास से भिन्न हों,
आज्ञा, जननि, दिवस-निशि करूँ अनुसरण ।
लाञ्छना इन्धन हृदय-तल जले अनल,
भक्ति-नत-नयन मैं चलूँ अविरत सबल
पारकर जीवन-प्रलोभन समुपकरण ।
प्राण-संघात के सिन्धु के तीर मैं,
गिनता रहूँगा न, कितने तरंग हैं,
धीर मैं ज्यों समीरण करूँगा तरण ।

१६३२ ई०

मातृ-वन्दना

गीत

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
वलि हों तेरे चरणों पर, माँ,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल।
जीवन के रथ पर चढ़कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़ कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर,
जागे मेरे उर मे तेरी
मूर्ति अश्रु-जल-धौत विमल,
कल से पाकर बल, वलि कर दूँ
जननि, जन्म-श्रम-सञ्चित फल।
वाधाएँ आयें तन पर,
देखूँ तुझे नयन-मन भर
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर,
क्लेद-युक्त, अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर वलि
सकल श्रेय-श्रम-सञ्चित फल।

१९२० ई०

जागा दिशा-ज्ञान

गीत

जागा दिशा-ज्ञान,
उगा रवि पूर्व का गगन में, नव-यान।
खुले, जो पलक तम में हुए थे अचल,
चेतनाहत हुई दृष्टि दीखी चपल,
स्नेह से फुल्ल आई उमड मुसकान।
किरण-दृक्-पात, आरक्त किसलय सकल,
शक्त द्रुम, कमल-कलि-पवन-जल-स्पर्श-चल,
भाव में शत सतत बह चले पथ प्राण।
हारे हुए सकल दैन्य दलमल चले,
जीते हुए लगे जीते हुए गले,
वन्द-वह विश्व में गूंजा विजय-गान।

१९२८ ई०

अस्ताचल रवि

गीत

अस्ताचल रवि, जल छलछल-छवि,
स्तब्ध विश्वकवि, जीवन उन्मन,
मन्द पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन।

दूर नदी पर नौका सुन्दर,
दीखी मृदुतर बहती ज्यों स्वर,
वहाँ स्नेह की प्रतनु देह की
बिना गेह की बैठी नूतन।
ऊपर शोभित मेघ छत्र सित,
नीचे अमित नील जल दोलित,
ध्यान-नयन-मन, चिन्त्य प्राण-धन;
किया शेष रवि ने कर-अर्पण।

१९३२ ई०

प्रात तव द्वार पर

गीत

प्रात तव द्वार पर,
आया, जननि, नैश अन्ध पथ पार कर।
लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात,
कण्टक चुभे, जागरण बने अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्राप्त-वर—
प्रात तव द्वार पर।
समझ क्या वे सकेंगे भीरु मलिन-मन,
निशाचर तेज-हत रहे जो वन्य जन,
धन्य जीवन कहाँ, मात प्रभात-धन,
प्राप्ति को बढ़ें जो, गहें तव पद अमर—
प्रात तव द्वार पर।

१९३२ ई०

हिन्दी के सुमनो के प्रति पत्र

गीत

मैं जीर्ण-साज बहु-छिद्र आज,
तुम सुदल सुरग सुवास सुमन,
मैं हूँ केवल पद-तल-आसन,
तुम सहज विराजे महाराज।

ईर्ष्या कुछ नही मुझे, यद्यपि
मैं ही वसन्त का अग्रदूत,
ब्राह्मण-समाज मे ज्यो अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

तुम मध्य भाग के, महाभाग!
तरु के उर के गौरव प्रशान्त,
मैं पढा जा चुका पत्र न्यस्त,
तुम अलि के नव-रस-रग-राग।

देखो, पर क्या पाते तुम "फल"
देगा जो भिन्न स्वाद रस भर,
कर पार तुम्हारा भी अन्तर
निकलेगा जब तरु का सम्बल।

फल सर्वश्रेष्ठ नायाब चीज
या तुम बाँधकर रँगा धागा,
फल के भी उर का, कटु, त्यागा,
मेरा आलोचक एक बीज।

१९३७ ई०

बन्दूं पद सुन्दर तव

गीत

बन्दूं पद सुन्दर तव,
छन्द नवल स्वर-गौरव ।
जननि, जनक - जननि - जननि
जन्मभूमि-भाषे !
जागो, नव- अम्बर - भर-
ज्योतिस्तर-वासे !
उठे स्वरोर्मियों - मुखर
दिक्कुमारिका-पिक-रव ।
दृग-दृग को रञ्जित कर
अञ्जन भर दो भर।
विधें प्राण पञ्च बाण
के भी परिचय-शर !
दृग-दृग की बँधी सुछवि
बाँधे सचराचर भव !

१९३३ ई०

भर देते हो

भर देते हो
बार-बार, प्रिय, करुणा की किरणो से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अन्तर में आते हो, देव, निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कञ्ज बढाकर,
अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अञ्चल को
करता है क्षण-क्षण—
कुसुम-कपोलो पर वे लोल शिशिर-कण,
तुम किरणो से अश्रु पोंछ लेते हो,
नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

१६२२ ई०

जागो, जीवन-धनिके

गीत

जागो, जीवन-धनिके
विश्व-पण्य-प्रिय वणिके!
दुख-भार भारत तम-केवल,
वीर्य-सूर्य के ढके सकल दल,
खोलो उषा-पटल निज कर अयि,
छविमयि, दिन-मणिके!

गह कर अकल तूलि, रँग-रँग कर
वह जीवनोपाय भर दो घर,
भारति, भारत को फिर दो वर
ज्ञान-विपणि-खनि के ।
दिवस-मास-ऋतु-अयन-वर्ष भर
अयुत-वर्ण युग-योग निरन्तर
बहते छोड शेष सब तुम पर,
लव - निमेष - कणिके ।

१९३१ ई०

गर्जन से भर दो वन

गीत

घन, गर्जन से भर दो वन
तरु-तरु पादप-पादप-तन ।
अब तक गुञ्जन-गुञ्जन पर
नाची कलियाँ छवि-निर्भर,
भौरों ने मधु पी-पीकर
माना, स्थिर मधु-ऋतु कानन ।
गरजो, हे मन्द्र, वज्र-स्वर,
थर्राये भूधर-भूधर
झरझर झरझर धारा झर
पल्लव-पल्लव पर जीवन ।

१९३५ ई०

स्वागत

कितने ही विघ्नों का जाल
जटिल अगम विस्तृत पथ पर विकराल,
कण्टक, कर्दम, भय-श्रम निर्मम कितने शूल,
हिंस्र निशाचर, भूधर, कन्दर पशु-सकुल
पथ घन-तम, अगम अकूल—
पार पार करके आये हे नूतन!
सार्थक जीवन ले आये
श्रम-कण में बन्धु, सफल-श्रम।
सिर पर कितना गरजे वज्र-बादल,
उपल-वृष्टि, फिर शीत घोर फिर ग्रीष्म-प्रबल।
साधक, मन के निश्चल, पथ के सचल
प्रतिज्ञा के हे अचल-अटल!
पथ पूरा करके आये तुम
स्वागत हे प्रिय-दर्शन,
लाये, नव-जीवन भर लाये

१६२२ ई०

जागृति में सुप्ति थी

जड़े नयनों में स्वप्न
खोल बहुरंगी पंख विहग-से
सो गया सुरा-स्वर
प्रिया के मौन अधरों में
क्षुब्ध एक कम्पन-सा निद्रित
सरोवर में।

लाज से सुहाग का
मान से प्रगल्भ प्रिय-प्रणय निवेदन का
मन्द-हास-मृदु वह,
सजा-जागरण-जग
थककर वह चेतना भी लाजमयी
अरुण किरणो मे समा गई ।
जाग्रत प्रभात मे क्या शान्ति थी !—
जागृति में सुप्ति थी
जागरण-क्लान्ति थी ।

१६२२ ई०

बादल—२

उमड सृष्टि के अन्तहीन अम्बर से
घर से क्रीडा-रत बालक - से,
ऐ अनन्त के चञ्चल शिशु सुकुमार !
स्तब्ध गगन को करते हो तुम पार ।
अन्धकार—घन अन्धकार ही
क्रीडा का आगार ।
चौंक चमक छिप जाती विद्युत्
तडित्-दाम अभिराम ,
तुम्हारे कुञ्चित केशो में
अधीर विक्षुब्ध ताल पर
एक इमन का-सा अति मुग्ध विराम ।
स्वर्ण रश्मियो मे कितने ही
छा जाते हैं मुख पर—

जग के अन्तस्तल से उमड
नयन-पलकों पर छाये सुख पर,
रंग अपार
किरण-तूलिकाओं से अंकित
इन्द्रधनुष के सप्तक तार—
व्योम और पृथ्वी का राग उदार
मध्यदेश में गुडाकेश,
गाते हो वारम्वार ।
मुक्त, तुम्हारे मुक्त कण्ठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर-मन्द्र, उठ पुन-पुन ध्वनि
छा लेती है गगन, श्याम कानन,
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात ।
वधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग,
मुक्त शिशु, पुन-पुन एक ही राग अनुराग ।

१९२३ ई०

नूपुर के सुर मन्द रहे

१९४० ई०

रवि गये अपर पार

गीत

भर अन्तिम कर रवि गये अपर पार,
श्रमित-चरण लौटे गृहिजन निज-निज द्वार।
अम्बर-पथ से मन्थर सन्ध्या श्यामा
उतर रही पृथ्वी पर कोमल-पद-भार।
मन्द-मन्द बही पवन खुल गई जुही,
अन्जलि-गत विनत नवल पद-तल-उपहार।
सुवासना उठी प्रिया आनत-नयना,
नयन-दीप जला रही आरती उतार।

१९३५ ई०

राम की शक्ति-पूजा

मूर्च्छित-सुग्रीवांगद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल,—
वारित-सौमित्र-भल्लपति—अगणित-मल्ल-रोध,
गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध,
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतुः प्रहर,—
जानकी-भीरु-उर-आशा-भर,—रावण-सम्वर।
लौटे युग दल। राक्षस-पद-तल पृथ्वी टलमल,
बिंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल।
वानर-वाहिनी खिन्न, लख निज-पति-चरण-चिह्न,
चल रही शिविर की ओर स्थविर-दल ज्यों विभिन्न,
प्रशमित है वातावरण, नमित-मुख सान्ध्य कमल
लक्ष्मण चिन्ता-पल पीछे वानर-वीर सकल,

रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत-चरण,
श्लथ धनु-गुण है कटि-बन्ध स्रस्त—तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।

आये सब शिविर, सानु पर पर्वत के, मन्थर
सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान आदिक वानर,
सेनापति दल-विशेष के, अंगद, हनुमान,
नल, नील, गवाक्ष, प्रात के रण का समाधान

करने के लिए, फेर वानर-दल आश्रय-स्थल।
बैठे रघुकुल-मणि श्वेत-शिला पर, निर्मल जल
ले आये कर - पद - क्षालनार्थ पटु हनुमान,
अन्य वीर सर के गये तीर सन्ध्या - विधान—
वन्दना ईश की करने को, लौटे सत्वर
सब घेर राम को बैठे आज्ञा को तत्पर,
पीछे लक्ष्मण, सामने विभीषण, भल्ल धीर,—
सुग्रीव, प्रान्त पर पाद-पद्म के महावीर,
यूथपति अन्य जो, यथास्थान हो निर्निमेष
देखते राम का जित-सरोज-मुख-श्याम देश।

है अमा-निशा, उगलता गगन घन अन्धकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल।

स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर - फिर सशय
रह - रह उठता जग-जीवन मे रावण - जय - भय,
जो नही हुआ आज तक हृदय रिपुदम्य—श्रान्त,
एक भी, अयुत—लक्ष मे रहा जो दुराक्रान्त,
कल लडने को हो रहा विकल वह वार - वार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार - हार,

ऐसे क्षण अन्धकार घन मे जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी - तनया - कुमारिका - छवि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनो का—नयनो से गोपन—प्रिय सम्भाषण,—
पलको का नव पलको पर प्रथमोत्थान - पतन,—
कांपते हुए किसलय,—झरते पराग - समुदय,—
गाते खग नव-जीवन-परिचय,—तरु मलय-वलय,—
ज्योति प्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,—
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त,
हर धनुर्भग को पुनर्वार ज्यो उठा हस्त,
फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर,
फिर विश्व-विजय-भावना हृदय मे आयी भर,
वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत,—
फडका पर नभ को उडे सकल ज्यो देवदूत,
देखते राम, जल रहे शलभ ज्यो रजनीचर,
ताडका, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर,

फिर देखी भीमा-मूर्ति, आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ-बुझकर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन,
लख शंकाकुल हो गये अतुल-बल शेष-शयन,
खिच गये दृगों में सीता के राममय नयन,
फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण-खल-खल,
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दल।
बैठे मारुति देखते राम-चरणारविन्द—
युग 'अस्ति-नास्ति' के एक-रूप गुण-गण-अनिन्द्य,
साधना-मध्य भी साम्य—राम-कर दक्षिण-पद,
दक्षिण-कर-तल पर वाम चरण, कपिवर गद्गद्
पा सत्य, सच्चिदानन्द रूप, विश्राम-धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो रामनाम।
युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु-युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ में ज्यों तारा-दल,—
ये नहीं चरण राम के, बने श्यामा के शुभ,—
सोहते मध्य में हीरक-युग या दो कौस्तुभ,
टूटा वह तार ध्यान का, स्थिर मन हुआ विकल
सन्दिग्ध भाव की उठी दृष्टि, देखा अविकल
बैठे वे वहीं कमल-लोचन, पर सजल नयन,
व्याकुल-व्याकुल कुछ चिर-प्रफुल्ल मुख निश्चेतन।
"ये अश्रु राम के" आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार,
हो श्वसित पवन उनचास पिता-पक्ष से तुमुल
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,

शत घूर्णावर्त, तरग-भग, उठते पहाड,
जल-राशि राशि-जल पर चढता खाता पछाड,
तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय - अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शत - वायु - वेग - बल, डुबा अतल मे देश-भाव,
जल - राशि विपुल मथ मिला अनिल मे महाराव
वज्राग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।

रावण-महिमा श्यामा विभावरी, अन्धकार,
यह रुद्र राम-पूजन-प्रताप तेज प्रसार,
इस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध-पूजित,
उस ओर रुद्र-वन्दन जो रघुनन्दन-कूजित,
करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढा अटल,
लख महानाश शिव अचल हुए क्षण भर चन्चल,
श्यामा के पदतल भारधरण हर मन्द्रस्वर
बोले—"सम्वरो देवि, निज तेज, नही वानर
यह,—नही हुआ शृगार-युग्म-गत, महावीर,
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय-शरीर,
चिर-ब्रह्मचर्य-रत ये एकादश रुद्र, धन्य,
मर्यादा-पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य,
लीला-सहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार
करने पर होगी देवि, तुम्हारी विषम हार,
विद्या का ले आश्रय इस मन को दो प्रबोध,
झुक जायेगा कपि, निश्चय होगा दूर रोध।"

कह हुए मौन शिव, पवन-तनय मे भर विस्मय
सहसा नभ मे अञ्जना-रूप का हुआ उदय,
बोली माता—"तुमने रवि को जब लिया निगल
तब नही बोध था तुम्हे, रहे बालक केवल;
यह वही भाव कर रहा तुम्हे व्याकुल रह-रह,
यह लज्जा की है बात कि माँ रहती सह-सह,
यह महाकाश, है जहाँ वास शिव का निर्मल—
पूजते जिन्हें श्रीराम उसे ग्रसने को चल
क्या नही कर रहे तुम अनर्थ ?—सोचो मन मे,
क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्रीरघुनन्दन ने ?
तुम सेवक हो, छोडकर धर्म कर रहे कार्य—
क्या असम्भाव्य हो यह राघव के लिए धार्य ?"
कपि हुए नम्र, क्षण मे माता-छवि हुई लीन,
उतरे धीरे-धीरे गह प्रभु-पद हुए दीन।
राम का विषण्णानन देखते हुए कुछ क्षण,
"हे सखा" विभीषण बोले, "आज प्रसन्न वदन
वह नही देखकर जिसे समग्र वीर-वानर—
भल्लूक विगत-श्रम हो पाते जीवन निर्जर,
रघुवीर, तीर सब वही तूण मे हैं रक्षित,
है वही वक्ष, रण-कुशल-हस्त, बल वही अमित,
हैं वही सुमित्रानन्दन मेघनाद-जित रण,
हैं वही भल्लपति, वानरेन्द्र सुग्रीव प्रमन,
तारा-कुमार भी वही महाबल श्वेत धीर,
अप्रतिभट वही एक अर्बुद-सम, महावीर,
हैं वही दक्ष सेनानायक, है वही समर,
फिर कैसे असमय हुआ उदय यह भाव-प्रहर ?

रघुकुल-गौरव लघु हुए जा रहे तुम इस क्षण,
तुम फेर रहे हो पीठ, हो रहा जब जय रण।
कितना श्रम हुआ व्यर्थ, आया जब मिलन-समय,
तुम खींच रहे हो हस्त जानकी से निर्दय।
रावण, रावण, लम्पट, खल कल्मष - गताचार,
जिसने हित कहते किया मुझे पाद-प्रहार,
बैठा उपवन में देगा दुख सीता को फिर,
कहता रण की जय-कथा पारिषद-दल से घिर,
सुनता वसन्त में उपवन में कल-कूजित-पिक,
मैं बना किन्तु लंकापति, धिक्, राघव, धिक्, धिक्!"

सब सभा रही निस्तब्ध, राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए शीतल प्रकाश देखते विमन,
जैसे ओजस्वी शब्दों का जो था प्रभाव
उससे न इन्हें कुछ चाव, न हो कोई दुराव,
ज्यों हों वे शब्दमात्र—मैत्री की समनुरक्ति,
पर जहाँ गहन भाव के ग्रहण की नहीं शक्ति।

कुछ क्षण तक रहकर मौन सहज निज कोमल स्वर,
बोले रघुमणि—"मित्रवर, विजय होगी न समर,
यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,
उतरी पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण,
अन्याय जिधर, है उधर शक्ति।" कहते छल-छल
हो गये नयन, कुछ बूँद पुन ढलके दृगजल,
रुक गया कण्ठ, चमका लक्ष्मण तेज प्रचण्ड
धँस गया धरा में कपि गह-युग-पद, मसक दण्ड

स्थिर जाम्ववान,—समझते हुए ज्यों सकल भाव,
व्याकुल सुग्रीव,—हुआ उर में ज्यों विषम घाव,
निश्चित-सा करते हुए विभीषण कार्यक्रम,
मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम।

निज सहज रूप में संयत हो जानकी-प्राण
बोले—"आया न समझ में यह दैवी विधान,
रावण, अधर्मरत भी, अपना मैं हुआ अपर,—
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर शंकर!
करता मैं योजित बार-बार शर-निकर निशित,
हो सकती जिनसे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,
जो तेज पुञ्ज, सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमें निहित पतनघातक संस्कृति अपार—

शत-शुद्धि-बोध—सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमें है छात्र-धर्म का धृत पूर्णाभिषेक,
जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित,
वे शर हो गये आज रण में श्रीहत, खण्डित!
देखा, हैं महाशक्ति रावण को लिये अंक,
लाञ्छन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक,
हत मन्त्र-पूत शर सम्वृत करतीं बार-बार,
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार।
विचलित लख कपिदल क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों,
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों;
पश्चात् ; देखने लगीं मुझे, बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं, हुआ त्रस्त!!"

कह हुए भानु - कुल - भूषण वहा मौन क्षणभर,
बोले विश्वस्त कण्ठ से जाम्बवान, "रघुवर,
विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुषसिंह तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर,
रावण अशुद्ध हो कर भी यदि कर सका त्रस्त
तो निश्चय तुम हो सिद्ध, करोगे उसे ध्वस्त,
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!
तब तक लक्ष्मण हैं महावाहिनी के नायक
मध्य भाग में, अंगद दक्षिण—श्वेत सहायक,
मैं भल्ल-सैन्य, हैं वाम-पार्श्व में हनूमान,
नल, नील और छोटे कपिगण—उनके प्रधान,
सुग्रीव, विभीषण, अन्य यूथपति यथासमय
आयेंगे रक्षा-हेतु जहां भी होगा भय।"

खिल गई सभा। "उत्तम निश्चय यह, भल्लनाथ!"
कह दिया वृद्ध को मान राम ने झुका माथ।
हो गये ध्यान में लीन पुन करते विचार,
देखते सकल—तन पुलकित होता बार-बार।

कुछ समय - अनन्तर इन्दीवर - निन्दित लोचन
खुल गये, रहा निष्पलक भाव में मज्जित मन।
बोले आवेग-रहित स्वर से विश्वास - स्थित—
"मात, दशभुजा, विश्व-ज्योति, मैं हूँ आश्रित,

हो विद्ध शक्ति से है महिषासुर खल मर्दित,
जनरञ्जन-चरण-कमल-तल धन्य सिंह-गर्जित !
यह, यह मेरा प्रतीक मात समझा इंगित,
मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।"

कुछ समय स्तब्ध हो रहे राम छवि में निमग्न,
फिर खोले पलक-कमल-ज्योतिर्दल ध्यान-लग्न;
हैं देख रहे मन्त्री, सेनापति, वीरासन
बैठे उमड़ते हुए राघव का स्मित आनन।
बोले भावस्थ चन्द्रमुख-निन्दित रामचन्द्र
प्राणों में पावन कम्पन भर स्वर-मेघमन्द्र—
"देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी मकरन्द-विन्दु,
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु,

दशदिक्-समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर,
लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व,
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।"
फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए—
"चाहिए हमें एक सौ आठ, कपि, इन्दीवर,
कम-से-कम, अधिक और हो, अधिक और सुन्दर,
जाओ देवीदह, उषःकाल होते सत्वर,
तोड़ो, लाओ वे कमल, लौटकर लड़ो समर।"

अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान,
प्रभु-पद-रज सिर धर चले हर्ष भर हनूमान।
राघव ने विदा किया सबको जानकर समय
सब चले सदय राम की सोचते हुए विजय।

निशि हुई विगत, नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा-ज्योति-हिरण,
है नही शरासन आज हस्त—तूणीर स्कन्ध
वह नही सोहता निविड-जटा दृढ मुकुट-बन्ध,
सुन पडता सिंहनाद रण-कोलाहल अपार,
उमडता नही मन, स्तब्ध सुधी है ध्यान धार,
पूजोपरान्त जपते दुर्गा-दशभुजा-नाम,
मन करते हुए मनन नामो के गुण-ग्राम,
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन से गहनतर होने लगा समाराधन।
क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पञ्च दिवस,
चक्र से चक्र मन चढता गया ऊर्ध्व निरलस,

कर-जप पूरा कर एक चढाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे है पूरा कर।
चढ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन,
प्रति जप से खिच-खिच होने लगा महाकर्षण,
सञ्चित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर,
जप के स्वर लगा कांपने थर-थर-थर अम्बर,
दो दिन निःस्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर जपते हुए नाम;

आठवाँ दिवस मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध,
रह गया एक इन्दीवर मन देखता—पार
प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार,
द्विप्रहर रात्रि, साकार हुई दुर्गा छिपकर
हँस उठा ले गई पूजा का प्रिय इन्दीवर।
यह अन्तिम जप, ध्यान में देखते चरण-युगल
राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल,
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चञ्चल,
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल,
देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गये नयन-द्वय,—
"धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध!
जानकी! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका।"
वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति हतचेतन
राम में जगी स्मृति हुए सजग पा भाव प्रमन।
"यह है उपाय" कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन—
"कहती थी माता मुझे सदा राजीव-नयन!
दो नील-कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन!"

कहकर देखा तूणीर ब्रह्मशर रहा झलक,
ले लिया हस्त लक-लक करता वह महाफलक,
ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन
जिस क्षण बँध गया बेधने का दृग दृढ निश्चय
काँपा ब्रह्माण्ड, हुआ देवी का त्वरित उदय —
"साधु, साधु, साधक-धीर, धर्म-धन-धन्य ।राम !"
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम ।
देखा राम ने, सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वामपद असुर-स्कन्द पर, रहा दक्षिण हरि पर,
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध-अस्त्र सज्जित,
मन्द-स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित
है दक्षिण मे लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बायें रण-रग-राग,
मस्तक पर शकर । पद-पद्मो पर श्रद्धाभर
श्रीराघव हुए प्रणत मन्द-स्वर-वन्दन कर।
"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!"
कह महाशक्ति राम के वदन में हुईं लीन ।

१६३६ ई०

मैं अकेला

मैं अकेला,
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला ।

पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला ।
जानता हूँ, नदी झरने
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख,
कोई नहीं भेला ।

१९४० ई०

जीवन भर दो

गीत

पथ पर मेरा जीवन भर दो
बादल हे, अनन्त अम्बर के
बरस सलिल गति ऊर्मिल कर दो ।
तट हो विटप-छाँह के निर्जन
सस्मित-कलि-दल-चुम्बित जल-कण,
शीतल-शीतल बहे समीरण,
कूजें द्रुम-विहगगण, वर दो ।
दूर ग्राम की कोई वामा
आये मन्द-चरण अभिरामा,
अवसन जल में उतरे श्यामा,
अंकित उर-छवि सुन्दरतर हो ।

१९३६ ई०

विधवा

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप - शिखा - सी शान्त, भाव मे लीन,
वह क्रूर-काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी-लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।
षड्ऋतुओ का शृगार
कुसुमित कानन में नीरव-पद-सञ्चार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है
उसके मधु-सुहाग का दर्पण
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथो का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा वह ध्रुवतारा।
दूर हुआ वह वहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।
है करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगी मन-मधुकर की पाँखें,
मृदु रसावेश मे निकला जो गुन्जार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार !
उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का, मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को—

दुख रूखे-सूखे अधर त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है अस्फुट स्वर में,
दुख सुनता है आकाश धीर—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर।
कौन उसको धीरज दे सके,
दुख का भार कौन ले सके?
यह दुख वह जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव, अत्याचार कैसा घोर और कठोर है!
क्या कभी पोंछे किसी के अश्रु-जल?
या किया करते रहे सबको विकल?
ओस-कण-सा पल्लवों से झर गया
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया।

१९१९ ई०

अध्यात्म फल

जब कड़ी मारें पड़ीं, दिल हिल गया,
पर कभी चूं भी न कर पाया यहाँ,
मुक्ति की तब युक्ति से मिल खिल गया
भाव जिसका चाव है छाया वहाँ।
खेत में पड़ भाव की जड़ गड़ गयी,
धीर ने दुख-नीर से सींचा सदा,
सफलता की थी लता आशामयी,
झूलते थे फूल, भावी सम्पदा।

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा

गीत

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर, खिल न सकेगा ?
जग के दूषित बीज नष्ट कर,
पुलक-स्पन्द भर खिला स्पष्टतर,
कृपा-समीरण बहने पर, क्या
कठिन हृदय यह हिल न सकेगा ?

मेरे दुख का भार झुक रहा,
इसीलिए प्रतिचरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर क्या
महाभार यह खिल न सकेगा?

वसन वासन्ती लेगी

होली

रूखी री यह डाल,
वसन वासन्ती लेगी।
देख, खड़ी करती तप अपलक,
हीरक-सी समीर-माला जप,
शैलसुता अपर्ण-अशना
पल्लव-वसना बनेगी—
वसन वासन्ती लेगी।
हार गले पहना फूलों का
ऋतुपति सकल सुकृत-कूलों का
स्नेह सरस भर देगा उर-सर,
स्मर-हर को वरेगी—
वसन वासन्ती लेगी।
मधुव्रत में रत वधू मधुर फल
देगी जग को स्वाद-तोष-दल,
गरलामृत शिव आशुतोष-बल
विश्व सकल नेगी—
वसन वासन्ती लेगी।

वन-बेला

वर्ष का प्रथम,
पृथ्वी के उठे उरोज मञ्जु पर्वत निरुपम
किसलयों बँधे
पिक-भ्रमर-गुञ्ज भर मुखर प्राण रच रहे सधे
प्रणय के गान,
सुनकर सहसा
प्रखर से प्रखरतर हुआ तपन-यौवन सहसा,
ऊर्जित, भास्वर
पुलकित शत-शत व्याकुल कर भर
चूमता रसा को बार-बार चुम्बित दिनकर
क्षोभ से, लोभ से, ममता से,
उत्कण्ठा से, प्रणय के नयन की समता से,
सर्वस्व दान
देकर, लेकर सर्वस्व प्रिया का सुकृत मान ।
दाव में ग्रीष्म,
भीष्म से भीष्म बढ़ रहा ताप,
प्रस्वेद कम्प,
ज्यों-ज्यों युग-उर पर और चाप—
और सुख-झम्प,
निश्वास सघन
पृथ्वी की—बहती लू, निर्जीवन
जड़-चेतन ।
यह सान्ध्य समय
प्रलय का दृश्य भरता अम्बर ,

फिर लगा सोचने यथासूत्र—"मैं भी होता
यदि राजपुत्र—मैं क्यों न सदा कलंक ढोता,
ये होते जितने विद्याधर मेरे अनुचर,
मेरे प्रसाद के लिए विनत-सिर उद्यत-कर,
मैं देता कुछ, रख अधिक, किन्तु जितने पेपर,
सम्मिलित कण्ठ से गाते मेरी कीर्ति अमर,
जीवन-चरित्र
लिख अग्रलेख अथवा छापते विशाल चित्र।
इतना भी नहीं, लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब-समुद्र-पार,

देश की नीति के मेरे पिता परम पण्डित
एकाधिकार रखते भी तन पर, अविचल-चित
होते उग्रतर साम्यवादी, करते प्रचार,
चुनती जनता राष्ट्रपति उन्हें ही सुनिर्वार,
पैसे मे दस राष्ट्रीय गीत रचकर उनपर
कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ-मर्दन-स्वर,
हिन्दी-सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कही यह हो डगमग,
मैं पाता खबर तार से त्वरित समुद्र-पार,
लार्ड के लाडलो को देता दावत, विहार,
इस तरह खर्च केवल सहस्र-षट् मास-मास
पूरा कर आता लौट योग्य निज पिता-पास ।
वायुयान से, भारत पर रखता चरण-कमल,
पत्रो के प्रतिनिधि-दल में मच जाती हलचल,
दौडते सभी, कैमरा हाथ, कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुककर,
होता फिर खडा इधर को मुख कर कभी उधर,
बीसियो भाव की दृष्टि सतत नीचे ऊपर
फिर देता दृढ सन्देश देश को मर्मान्तिक,
भाषा के बिना न रहता अन्य भाव प्रान्तिक ,
जितने रूस के भाव, मैं कह जाता अस्थिर
समझते विचक्षण ही जब वे छपते फिर-फिर ,
फिर पिता-सग
जनता की सेवा का व्रत मैं लेता अभग,
करता प्रचार
मञ्च पर खडा हो साम्यवाद इतना उदार !"

चिर-परिचित चितवन डाल, सहज मुखडा मरोर,
भर मुहुर्मुहुर, तन-गन्ध विमल बोली बेला—
"मैं देती हूँ सर्वस्व, छुओ मत, अवहेला
की अपनी स्थिति की जो तुमने, अपवित्र स्पर्श,
हो गया तुम्हारा, रुको, दूर से करो दर्श।"

मैं रुका वही,
वह शिखा नवल

आलोक स्निग्ध पर दिखा गई पथ जो उज्ज्वल।
मैंने स्तुति की—"हे वन्य वह्नि की तन्वि नवल,
कविता मे कहाँ खुले ऐसे दल दुग्ध-धवल ?—
यह अपल स्नेह—
विश्व के प्रणयि-प्रणयिनियो का
हार-उर गेह ?—
गति सहज मन्द
यह कहाँ—कहाँ वामालक-चुम्बित पुलक-गन्ध !"
"केवल आपा खोया खेला,
इस जीवन मे"
कह सिहरी तन मे वन-बेला।
'कूऊ-कूऊ' बोली कोयल, अन्तिम-सुख स्वर,
'पी कहाँ' पपीहा-प्रिया मधुर विष गई छहर,
उर बढा आयु
पल्लव-पल्लव को हिला हरित बह गई वायु,
लहरो मे कम्प और लेकर उत्सुक सरिता
तैरी देखती तमश्चरिता
छवि बेला की नभ की ताराएँ निरुपमिता,

नव गुह्यराग

उनकी आँखों की आभा में निर्देश स्वर्ग।"

बोला मैं, "यही गन्ध, सुन्दर !

नाचती वृन्त पर तुम, ऊपर

होता जब उपल-प्रहार प्रखर।

अपनी कविता

तुम रहो एक मेरे उर में

अपनी छवि में शुचि सञ्चरिता।

फिर उषःकाल

मैं गया टहलता हुआ, बेल की झुका डाल

तोड़ता फूल कोई ब्राह्मण,

"जाती हूँ मैं" बोली बेला,
जीवन प्रिय के चरणो पर करने को अर्पण —
देखती रही,
निस्वन, प्रभात की वायु वही ।

१९३७ ई०

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।
पेट-पीठ दोनो मिलकर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठीभर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढाये ।
भूख से सूख ओठ जब जाते,
दाता—भाग्य-विधाता से क्या पाते ?—
घूंट आँसुओ के पीकर रह जाते ।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सडक पर खडे हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अडे हुए ।
ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूंगा
अभिमन्यु-जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुख मैं अपने हृदय मे खींच लूंगा ।

१९२१ ई०

तुम और मैं

तुम हो रागानुग निश्छल तप
मैं शुचिता सरल समृद्धि ।
तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा ;
तुम नन्दन-वन-घन-विटप
और मैं सुख-शीतल-तल शाखा,
तुम प्राण और मैं काया,
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म
मैं मनोमोहिनी माया ।
तुम प्रेममयी के कण्ठहार,
मैं वेणी काल-नागिनी,
तुम कर पल्लव-झंकृत सितार

मैं व्याकुल विरह-रागिनी ।
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन अधरों की वेणु ।
तुम पथिक दूर के श्रान्त
और मैं बाट जोहती आशा,
तुम भव-सागर दुस्तार,
पार जाने की मैं अभिलाषा ।
तुम नभ हो, मैं नीलिमा,
तुम शरत-काल के बाल-इन्दु,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा ।
तुम गन्ध-कुसुम कोमल पराग
मैं मृदुगति मलय समीर,
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष,
मैं प्रकृति, प्रेम-जंजीर ।
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति,
तुम रघुकुल - गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति ।

मैं मुखर मधुर नूपुर - ध्वनि,
तुम नाद-वेद-ओंकार-सार
मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि।
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द-इन्दु अरविन्द-शुभ्र
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

आवेदन

गीत

फिर सँवार सितार लो।
बाँधकर फिर ठाट, अपने
अंक पर झंकार दो।
शब्द के कलि-दल खुलें,
गति-पवन-भर काँप थर-थर
मींड-भ्रमरावलि ढुलें,
गीत परिमल बहे निर्मल
फिर बहार बहार हो!
स्वप्न ज्यों सज जाय
यह तरी, यह सरित, यह तट,
यह गगन, समुदाय।
कमल-वलयित सरल-दृग-जल
हार का उपहार हो!

हताश

गीत

जीवन चिरकालिक क्रन्दन ।
मेरा अन्तर वज्र-कठोर,
देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुख की गहन अन्ध
तम-निशि न कभी हो भोर
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता,
इतना वन्दन—अभिनन्दन ?
हो मेरी प्रार्थना विफल,
हृदय कमल के जितने दल
मुरझायें, जीवन हो म्लान
शून्य सृष्टि में मेरे प्राण
प्राप्त करें शून्यता सृष्टि की
मेरा जग हो अन्तर्धान,
तब भी क्या ऐसे ही तम में
अटकेगा जर्जर स्यन्दन ?

१६२२ ई०

स्मरण करते

गीत

प्राण-धन को स्मरण करते
नयन झरते—नयन झरते ।
स्नेह ओतप्रोत,
सिन्धु दूर, शशिप्रभा-दृग
अश्रु—ज्योत्स्ना-स्रोत ।
मेघ-माला सजल - नयना
सुहृद-उपवन पर उतरते ।

दुःख-योग, धरा
विकल होती जब दिवस-वश
हीन, तापहरा,
गगन-नयनों में शिशिर झर
प्रेयसी के अधर भरते ।

१९३६ ई०

तरङ्गों के प्रति

किस अनन्त का नीला अञ्चल हिला-हिलाकर
आती हो तुम सजी मण्डलाकार ?
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर
गाती हो ये कैसे गीत उदार ?
सोह रहा है हरा क्षीण कटि में अम्बर-शैवाल,
गाती आप, आप देती हो कलित करों में ताल ।
चञ्चल चरण बढ़ाती हो,
किससे मिलने जाती हो ?

तिमिर तैरकर भुज-मृणाल से सलिल काटती
आपस मे तुम करती हो परिहास,
गला शिला का कभी ऐंठती, कभी डाँटती,
कभी दिखाती हो जगती को त्रास,
मन्द-मन्द-गति कभी पवन का मौन-भग उच्छ्वास,
छाया-शीतल तट के तल आ तकती कभी उदास,
क्यो तुम भाव बदलती हो
हँसती हो, कर मलती हो ?
बाहें अगणित बढा जा रही हृदय खोलकर,
किसके आलिगन का है यह साज ?
भाषा मे तुम पिरो रही हो शब्द तोलकर,
किसका यह अभिनन्दन होगा आज ?

किसके स्वर मे आज मिला दोगी वर्षो का गान
आज तुम्हारा किस विशाल वक्ष स्थल मे अवसान ?
आज जहाँ छिप जाओगी,
फिर न हाय तुम गाओगी !
बहती जाती साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी
दग्ध चिता के कितने हाहाकार,
नश्वरता की थी सजीव जो कृतियाँ कितनी,
अबलाओ की कितनी करुण पुकार
मिलन-मुखर तट की रागिनियो का निर्भर गुञ्जार,
शकाकुल कोमल मुख पर व्याकुलता का सञ्चार
उस असीम मे ले जाओ,
मुझे न कुछ तुम दे जाओ ।

१६२३ ई०

आये घन पावस के

गीत

अलि, घिर आये घन पावस के।
लख, ये काले-काले बादल
नील-सिन्धु में खुले कमल-दल,
हरित ज्योति चपला अति चञ्चल
सौरभ के, रस के।
द्रुम समीर-कम्पित थर-थर-थर,
झरती धाराएँ झर-झर-झर
जगती के प्राणों में स्मर-शर
बेध गये, कस के।
हरियाली ने अलि, हर ली श्री
अखिल विश्व के नव यौवन की,
मन्द-गन्ध कुसुमों में लिख दी
लिपि जय की हँस के।
छोड़ गये गृह जब से प्रियतम,
बीते कितने दृश्य मनोरम,
क्या मैं ऐसी ही हूँ अक्षम
जो न रहे बस के?

१९२२ ई०

फुल्ल नयन ये

गीत

द्रुम-दलशोभी फुल्ल नयन ये
जीवन के मधु-गन्ध-चयन ये ।
रवि के पूरक, रग-रग के,
छाया-छवि कवि के अनग के,
व्यग्य व्यग्य के सग सग के,
अग अग के शमित शयन ये ।
देह-भूमि के सजल श्याम-घन,
प्रणय-पवन से ज्योतिर्वर्षण,
उर के उत्पल के हर्षण-क्षण,
आन्दोलन के सृष्ट अयन ये ।
प्रेम-पाठ के पृष्ठ उभय ज्यों
खुले भी न अब तलक खुले हों,
नित्य अनित्य हो रहे हैं, यों
विविध-विश्व-दर्शन-प्रणयन ये ।

छत्रपति शिवाजी का पत्र

वीर !—सरदारों के सरदार !—महाराज !
बहु-जाति क्यारियों के पत्र-पुष्प-दल भरे
आन-बान-शान वाले भारत-उद्यान के
नायक हो रक्षक हो.
वासन्ती सुरभि को हृदय से हर—
दिगन्त भरनेवाले पवन ज्यों ।
पंकज हो चेतन [illegible]
[illegible] मधुर-[illegible] [illegible] से ।

किन्तु हाय, वीर राजपूतो की
गौरव-प्रलम्ब ग्रीवा—
अवनत हो रही है आज तुमसे महाराज,
मोगल-दल विगलित-बल हो रहे हैं राजपूत,
बाबर के वश की
देखो, आज राजलक्ष्मी
प्रखर से प्रखरतर
प्रखरतम दीखती
दुपहर की धूप-सी,
दुर्मद ज्यो सिन्धुनद
और तुम उसके साथ वर्षा की बाढ जैसे
भरते हो प्रबल वेग प्लावन का,
बहता है देश निज
धन-जन कुटुम्ब-भाई—
अपने सहोदर, मित्र,
नि:सहाय, त्रस्त भी, उपायशून्य ।
वीरता की गोद पर
मोद भरने वाले शूर तुम,
मेघा के महान,
राजनीति मे हो अद्वितीय जयसिंह,
सेवा हो स्वीकृत,
है नमस्कार, साथ ही
असीस भी है बार-बार ।
कारण ससार के विश्व-रूप,
तुम पर प्रसन्न हो,
हृदय की आँख दें,

देखो तुम न्याय - मार्ग ।
सुना है मैंने,
तुम सेना से पाटकर दक्षिण की भूमि को
मुझ पर चढ आये हो,
जय-श्री जयसिंह,
मोगल-सिंहासन के,
औरंग के पैरों के नीचे तुम रखोगे,—
काढकर यहाँ के प्राण
देना चाहते हो मोगलों को तुम जीवनदान !
काढकर हमारा हृदय
ऐसे सदय, कीर्ति से
जाओगे अपनी पताका लेकर ।
हाय री यशोलिप्सा
अन्धे की दिवस तू,—
अन्धकार रात-सी
लपट में झपटकर
प्यासों मरनेवाले मृग की मरीचिका है ।
चेतो, वीर,
हो अधीर जिसके लिए,
अमृत नहीं, गरल है,
अति कटु, हलाहल है,
कीर्ति - पूर्णिमा में यह
कालिमा कलंक की
डोलती है छिपी हुई;
काला कर देगी मुख,
देश होगा विगत-सुख,

विमुख भी,
धर्म को सहेगा नही इतना यह अत्याचार।
करो कुछ विचार,
तुम देखो वस्त्रो की ओर
सराबोर किसके खून से ये हुए ?
लालिमा क्या है कही कुछ ?
भ्रम है वह,
सत्य, कालिमा ही है।
दोनो लोक कहेंगे,
होता तू जानदार,
अपनो पर हरगिज तू
न कर सकता प्रहार।
अगर निज नाम से, बाहु-बल से
चढकर तुम आते कही विजय के लिए, वीर,
पत्र-से प्रभात के
इन नयन पलको को,
राह पर तुम्हारी मैं
सुख से बिछा देता,
सीस भी झुका देता सेवा में,
साथ भी होता, वीर,
रक्षक शरीर का, हमरकाब,
साथ लेता सेना निज,
सागराम्बरा भूमि क्षत्रियो की जीतकर
विजय-सिंहासन-श्री
सौंपता मैं तुम्हे लाकर
स्मृति जैसे प्रेम की।

किन्तु तुम आये नही अपने लिए,
आये हो औरगशाह को
देने मृदु अग निज काटकर ।
धोखा दिया है यह उसने तुम्हे क्या ही !
दगाबाज,
लाज जो उतारता है मरजादवालो की,
खूब बहकाया तुम्हे !
सोचता हूँ अपना कर्त्तव्य अब
किन्तु क्या करूँ मैं, कुछ
निश्चय नही होता, और
द्विधा मे पडे है प्राण ।
अगर मैं मिलता हूँ,
'डरकर मिला है'
यह शत्रु मेरे कहेगे,
नही यह मर्दानगी ।
समय की बाट कभी
जोहते नही है पुरुष,
पुरस्कार उपहार मे हो सयोग से जिन्हे मिला,
सिंह भी क्या स्वांग कभी करता है स्यार का ?
यदि लूँ तलवार
तो धार पर बहेगा खून
दोनो ओर अपना ही ।
उठता नही है कभी मेरा हाथ, नरनाथ,
देखकर हिन्दुओ को रण मे, विपक्ष मे ।
कैसी है दासता, पेट के लिए ही
कहते है मारे मारे—

कोई तुम ऐसा भी कीर्तिकामी ।
वीरवर, समर मे
धर्म-घातकों से ही खेलती है रणक्रीड़ा
मेरी तलवार
निकलकर चलकर ।
आये होते यदि कही तुर्क इस समर मे,
तो क्या ? मर्दशेरो के वे शिकार आये होते ।
न्याय-धर्म-वञ्चित वह
पापी औरंगजेब
राक्षस निरा जो नररूप का,
समझ लिया खूब जब,
दाल नहीं गली यहाँ
अफजल खाँ के द्वारा
कुछ न बिगाड़ सका शाइस्ता खान आकर,
सीस पर तुम्हारे
सेहरा समर का बाँधकर
भेजा है फतहयाब होने को दक्षिण मे ।
शक्ति उसे है नहीं
चोटें सहने की यहाँ
वीर शेरमर्दों की ।
सोचो तुम,
उठती है नग्न तलवार जब स्वतन्त्रता की,
कितने ही भावों से
याद दिलाकर दुख दारुण परतन्त्रता का
फूँकती स्वतन्त्रता निज मन्त्र मे जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु, रेणु-रेणु जो न हो जाय ?

इसीलिए दुर्जय है हमारी शक्ति ।
और भी
तुम्हें यहाँ भेजा जो
कारण क्या रण का ?
एक यही निस्सन्देह,
हिन्दुओं मे बलवान
एक भी न रह जाय,—
लुप्त हो हमारी शक्ति
तुर्कों की विजय की ।
आपस मे लड़-झगड़कर घायल मरेंगे सिंह,
जंगल मे गीदड़ ही गीदड़ रह जायेंगे—

वह चित्र देख चुके;
फूलों की सेज पर सोये हो,
काँटों की राह भी आह भरकर पार की।
काफी ज्ञान, वयोवृद्ध,
पाया है तुमने संसार का।
सोचो ज़रा,
क्या तुम्हें उचित है कभी
लोहा लो अपने ही भाइयों से?
अपने ही खून को
अञ्जलि दो पूर्वजों को,
धर्म-जाति के ही लिए
दिये हों जिन्होंने प्राण?
कैसा यह ज्ञान है!
धीमान कहते हैं तुम्हें लोग,
जयसिंह, सिंह हो तुम,
खेलो शिकार खूब हिरनों का,
याद रहे, केशरी
अन्य वन्य पशुओं का ही शिकार करता है।
सिंहों के साथ ही
चाहते हो गृह-कलह?
जयसिंह,
अगर हो शानदार,
जानदार है यदि अश्व वेगवान्,
बाहुओं में बहता है
क्षत्रियों का खून यदि,
हृदय में जागती है, वीर, यदि

माता क्षत्राणी की दिव्यमूर्ति
स्फूर्ति यदि अग-अग को उकसा रही है,
आ रही है याद यदि अपनी मरजाद की,
चाहते हो यदि कुछ प्रतिकार
तुम रहते तलवार के म्यान में,
आओ वीर, स्वागत है,
सादर बुलाता हूँ।
जो हैं बहादुर समर के
वे मर के भी माता को बचायेंगे।
शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम माँ का दाग,
कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे!—
निर्जर कहलाओगे, अमर हो जाओगे।
क्या फल है,
बाहुबल से, छल से या कौशल से
करके अधिकार किसी
भीरु पीनोरु नतनयना नवयौवना पर,
सौंपो यदि भय से उसे
दूसरे कामातुर किसी लोलुप प्रतिद्वन्द्वी को?
देख क्या सकोगे तुम
सामने तुम्हारे ही
अर्जित तुम्हारी उस प्यारी सम्पत्ति पर
प्राप्त करे दूसरा ही
भोग-सयोग और अधिकार?—
और तुम वीर हो?—
रहते शरीर में शौर्य ज्यों,

छोड़ा कब क्षत्रियो ने अपना भाग
रहते प्राण, कटि में कृपाण के ?
सुना नही तुमने क्या वीरो का इतिहास ?
पास ही तो—देखो—
कहता है चित्तौर-गढ ।
मढ गये ऐसे तुम तुर्को मे ?
करते अभिमान भी किन पर—
विदेशियो—विधर्मियो पर ?
काफिर तो कहते न होगे कभी तुम्हें वे ?
विजित भी न होगे तुम और गुलाम भी नही ?
कैसा परिणाम यह सेवा का ।
लोभ भी न होगा तुम्हें मेवा का महाराज ।
बादल घिर आये जो विपत्तियो के क्षत्रियो पर,
रहती है सदा ही जो आपदा,
क्या कभी कोशिश भी की कोई तुमने बचाने की ?
जानते हो, वीर छत्रसाल पर
होगा मोगलो का बहुत शीघ्र ही वज्र-प्रहार ।
दूसरे भी मलते हैं हाथ,
हैं अनाथ हिन्दू,
असहनीय हो रहा है अत्याचार ।
सच है, मोगलो से
सम्बन्ध हुआ है तुम्हारा,
किन्तु क्या अन्ध भी तुम हो गये ?
राक्षस वह रखते हो नीति का भरोसा तुम,
तृष्णा स्वार्थसाधना है जिसकी,
जिन नाड़ियो के खून से—

प्राणों से पिता के जो शक्तिमान हुआ है ?
नही जानते हो तुम ?
आड राजभक्ति की
लेना हो इष्ट यदि,
सोचो तुम,
शाहजहाँ से तुमने कैसा वर्ताव किया ।
दी है विधाता ने बुद्धि यदि तुम्हे कुछ,
वश का बचा हुआ यदि कुछ पुरुषत्व है ,
तत्व है,

तपाकर तलवार ताप से निज जन्मभू के
दुखियो के आँसुओ से
उस पर तुम पानी दो ।

अवसर नही है यह
लडने का आपस मे ,

खाली हो गये है खेत हिन्दुओ के महाराज,
और बलिदान
चाहती है जन्मभूमि यह,
रोलोगे सीस-हथेली का खेल ?
धन-जन-देवालय देव—
देश-द्विज-दारा-धेनु
ईन्धन हो रहे है तृष्णा की भट्टी में,
हद हो चुकी है अब,
और भी कुछ दिनों तक
जारी रहा यदि ऐसा अत्याचार महाराज,
निश्चय है हिन्दुओं की
कीर्ति उठ जायगी—

चिन्ह भी न हिन्दू-सभ्यता का रह जायगा।
कितना आश्चर्य है!
मुट्ठी भर मुसलमान
पले आतक से है भारत के अक पर,
अपनी प्रभुता में मानते है इस देश को,
विशृंखल तुम्हारी तरह यह हो रहा है।
नही देखते हो क्या,
कैसी चाल चलता है रण मे औरगजेब?
बहुरूपी, रग बदला ही किया।
साँकलें हमारी हैं,
जकड रहा है वह जिनसे हमारे पैर।
सीस हिन्दुओ के, हाथ, तलवार हिन्दुओ की,
आज्ञा देता है वह।
याद रहे बरबाद जाता है हिन्दूधर्म,
हिन्दू-जाति, हिन्दुस्तान।
मरजाद चाहती है आत्मत्याग—
शक्ति चाहती है अपनाव, प्रेम।
क्षिप्त हो रहे हैं जो
क्षीण क्षीणतर हुए—
आप ही हैं अपनी सीमा के राजराजेश्वर—
भाइयो के शेर और क्रीतदास तुर्कों के,
उद्धत—विवेक-शून्य,
चाहिए उन्हें कि शक्ति अपनी वे पहचानें,
मिल जायें जैसे जलराशि जलराशि से,
देखो फिर, तुर्कशक्ति कितनी देर टिकती है!
सगठित हो जाओ,

भूले हुए भाइयों को फिर से अपनाओ तुम।
चाहिए हमें कि
तदबीर और तलवार पर
पानी चढ़ायें खूब,
क्षत्रियों की क्षिप्त-शक्ति
कर लें एकत्र फिर,
बादलों के दल जैसे
घेरते हैं धरा को
प्लावित करते हैं निज जीवन से जीवों को;
ईंट का जवाब हमें पत्थर से देना है,
तुर्कों को तुर्की में,
घूँसे से थप्पड़ का।
यदि तुम मिलोगे महाराज जसवन्तसिंह से,
हृदय से कलुष धो डालोगे,
एकता के सूत्र से
यदि तुम गूंथोगे महाराणा राजसिंह से,
निश्चय है
हिन्दुओं की लुप्त शक्ति
फिर से जग जायगी—
आयेगी महाराज भारत की गई ज्योति,—
प्राची के भाल पर स्वर्ण-सूर्योदय होगा,—
तिमिर आवरण फट जायगा मिहिर से,—
[illegible] नव [illegible] के [illegible] होंगे
घेर लो सब ओर
[illegible]
[illegible]

व्यक्तिगत भेद ने छीन ली हमारी शक्ति।
कर्षण-विकर्षण-भाव
जारी रहेगा यदि
इसी तरह आपस मे,
नीच जातियो के साथ
द्वन्द्व, कलह, वैमनस्य,
क्षुद्र ऊर्मियो की तरह
टक्करें लेते रहे तो,
निश्चय है,
वेग उन तरंगो का और घट जायगा—
क्षुद्र मे वे क्षुद्रतर होकर मिट जायँगी,
चञ्चलता शान्त होगी,
स्वप्न जैसा लीन हो जायगा अस्तित्व सब,
दूसरी ही कोई तरंग फिर फैलेगी।
चाहते हो क्या तुम
सनातन-धर्म, धारा शुद्ध
भारत मे बह जाय चिरकाल के लिए?
महाराज
जितनी विरोधी शक्तियो से
हम लड़ रहे हैं आपस मे,
सत्य मानो, शर्म है यह
क्षत्रियो का अर्थ ही।
मिथ्या नही
रहती हैं जीवो मे विरोधी शक्तियाँ,
पिता से पुत्र का
पति से सहधर्मिणी का

जारी सदा ही है ऐसा विकर्षण-भाव,—
और यही जीवन है—सत्ता है;
किन्तु तो भी
कर्षण बलवान है
जब तक मिले हैं वे आपस में—
तब तक सम्बन्ध का ज्ञान है—
जब तक वे हँसते हैं, रोते हैं
एक - दूसरे के लिए ।
एक - एक कर्षण में
बँधा हुआ चलता है
एक-एक छोटा परिवार
और उतनी ही सीमा में
बँधा है अगाध प्रेम
धर्म-भाषा-देश का,
और है विकर्षणमय
हिन्दुओं के लिए सब ।
धोखा है अपनी ही छाया से ।
ठगते हैं अपने ही भाइयों को,
लूटकर उन्हें ही वे भरते हैं अपना घर,
सुख की छाया में फिर
रहते हैं निश्चिन्त
स्वप्न में भिखारी जैसे ।
मृत्यु का और क्या होगा अन्धकार रूप ?
कितनी नीचता है आज
हिन्दुओं में फैली हुई ।
एकीभूत शक्तियों से एक हो परिवार,

फैले समवेदना,
व्यक्ति का खिचाव यदि जातिगत हो जाय,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रहेंगे पैर,
पस्त हौसला होगा,
ध्वस्त होगा साम्राज्य ।
जितने विचार आज
मारते तरग है
साम्राज्यवादियो की भोगवासनाओ मे,
नष्ट होगे चिरकाल के लिए ।
आयेगी भाल पर भारत की गई ज्योति,
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जायेंगे ।
सेना घन-घटा-सी,
मेरे वीर सरदार घेरेंगे गोलकुण्डा, बीजापुर,
चमकेंगे खड्ग सब विद्युद्द्युति बार-बार,
खून को पियेंगी धार
सगिनी सहेलियाँ भवानी की,
धन्य हूँगा, देव-द्विज-देश को
सर्वस्व सौपकर ।

१९२२ ई०

यमुना के प्रति

स्वप्नों-सी उन किन आँखों की
पल्लव-छाया में अम्लान
यौवन की माया-सा आया
मोहन का सम्मोहन ध्यान?
गन्धलुब्ध किन अलिबालों के
मुग्ध हृदय का मृदु गुञ्जार
तेरे दृग-कुसुमों की सुषमा
जाँच रहा है वारम्वार?
यमुने, तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान?

बता, कहाँ अब वह वंशीवट?
कहाँ गये नटनागर श्याम?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दा धाम?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछती वे दृगनीर?
रञ्जित सहज सरल चितवन में
उत्कण्ठित सखियों का प्यार
क्या आँसू-सा ढुलक गया वह
विरह-विधुर उर का उद्गार?

निखिल विश्व की जिज्ञासा-सी
आशा की तू झलक अमन्द
अन्तःपुर की निज शय्या पर
रच-रच मृदु छन्दों के बन्द,
किस अतीत के स्नेह-सुहृद को
अर्पण करती तू निज ध्यान—
ताल ताल के कम्पन से द्रुत
बहते हैं ये किसके गान ?

विहगों की निद्रा से नीरव
कानन के संगीत अपार
किस अतीत के स्वप्न-लोक में
करते हैं मृदु-पद-संचार ?

मुग्धा के लज्जित पलकों पर
तू यौवन की छवि अज्ञात
आँख मिचौनी खेल रही है
किस अतीत शिशुता के साथ ?
किस अतीत सागर-संगम को
बहते खोल हृदय के द्वार
बोहित के हित सरल अनिल-से
नयन-सलिल के स्रोत अपार ?

उस सलज्ज ज्योत्स्ना-सुहाग की
फेनिल शय्या पर सुकुमार,
उत्सुक, किस अभिसार निशा में,
गयी कौन स्वप्निल पर मार ?

अलि अलकों के तरल तिमिर में
किसकी लोल लहर अज्ञात
जिसके गूढ मर्म में निश्चित
शशि-सा मुख, ज्योत्स्ना-सी गात ?
कहु, सोया किस खंजन-वन में
उन नयनों का अंजन-राग ?
बिखर गये अब किन पातों में
वे कदम्ब-मुख-स्वर्ण-पराग ?

चमक रहे अब किन तारों में
उन हारों के मुक्ता-हीर ?
बजते हैं अब किन चरणों में
वे अधीर नूपुर-मंजीर ?

किस समीर से काँप रही वह
वंशी की स्वर-सरित-हिलोर ?
किस वितान से तनी प्राण तक
छू जाती वह करुण मरोर ?
सोच रही किस आशा-पथ पर
वह यौवन की प्रथम पुकार
सींच रही लालसा-लता नित
किस कंकन की मृदु झंकार ?

उमड़ चला अब वह किन तट पर
क्षुब्ध प्रेम का पारावार ?
किसकी विकच वीचि-चितवन पर
अब होता निर्भय अभिसार

आप आ गया प्रिय के कर में
कह, किसका वह कर सुकुमार
विटप-विहग ज्यों फिरा नीड में
सहम तमिस्र देख संसार ?
स्मर-सर के निर्मल अन्तर में
देखा था जो शशि प्रतिभात
छिपा लिया है उसे जिन्होंने
हैं वे किस घन वन के पात ?

कहाँ आज वह निद्रित जीवन
बँधा बाहुओं में भी मुक्त ?
कहाँ आज वह चितवन चेतन
श्याम-मोह-कज्जल-अभियुक्त ?

वह नयनों का स्वप्न मनोहर
हृदय-सरोवर का जलजात,
एक चन्द्र निस्सीम व्योम का,
वह प्राची का विमल प्रभात,
वह राका की निर्मल छवि, वह
गौरव रवि, कवि का उत्साह,
किस अतीत से मिला आज वह
यमुने, तेरा सरस प्रवाह ?

सोच रहा है मेरा मन वह
किस अतीत का इंगित मौन
इस प्रसुप्ति से जगा रही जो
बना, प्रिया-सी है वह कौन ?

वह कटाक्ष-चचल यौवन-मन,
वन-वन प्रिय-अनुसरण-प्रयास,
वह निष्पलक सहज चितवन पर
प्रिय का अचल अटल विश्वास;
अलक-सुगन्ध-मदिर सरि-शीतल
मन्द अनिल, स्वच्छन्द प्रवाह,
वह विलोल हिल्लोल चरण, कटि
भुज, ग्रीवा का वह उत्साह;

मत्त-मृग-सम सग-सग तम—
तारा मुख-अम्बुज-मधु-लुब्ध,
विकल विलोडित चरण-अक पर
शरण-विमुख नूपुर-उर क्षुब्ध,
वह सगीत विजय-मद-गर्वित
नृत्य-चपल अधरो पर आज,
वह अजीत-इगित-मुखरित मुख
कहाँ आज वह सुखमय साज ?

वह अपनी अनुकूल प्रकृति का
फूल, वृन्त पर विकच अधीर,
वह उदार सम्वाद विश्व का
वह अनन्त नयनो का नीर,

वह स्वरूप-मध्याह्न-तृषा का
प्रचुर आदि-रस, वह विस्तार
सफल प्रेम का, जीवन के वह
दुस्तर सर-सागर का पार;

वह अंजलि कलिका की कोमल,
वह प्रसून की अन्तिम दृष्टि,
वह, अनन्त का ध्वंस सान्त, वह
सान्त विश्व की अगणित सृष्टि,
वह विराम-अलसित पलकों पर
सुधि की चंचल प्रथम तरंग,
वह उद्दीपन, वह मृदु कम्पन,
वह अपनापन, वह प्रिय-संग,

वह अज्ञात पतन लज्जा का
स्खलन शिथिल घूँघट का देख
हास्य-मधुर निर्लज्ज उक्ति वह
वह नवयौवन का अभिषेक;

मुग्ध रूप का वह क्रय-विक्रय
वह विनिमय का निर्दय भाव,
कुटिल करों को सौंप सुहृद-मन,
वह विस्मरण, मरण, वह चाव,
असफल छल की सरल कल्पना,
ललनाओं का मृदु उद्गार
बता, कहाँ विक्षुब्ध हुआ वह
दृढ़ यौवन का पीन उभार,

उठा तूलिका मृदु चितवन की,
भर मन की मदिरा में मौन,
निर्निमेष नभ-नील-पटल पर
अटल खींचती छवि, वह कौन ?

कहाँ यहाँ अस्थिर तृष्णा का
बहता अब वह स्रोत अजान ?
कहाँ हाय निरुपाय तृणो से
बहते अब वे अगणित प्राण ?
नही यहाँ नयनो मे पाया
कही समाया वह अपराध,
कहाँ यहाँ अधिकृत अधरो पर
उठता वह सगीत अबाध ?
मिली विरह के दीर्घ श्वास से
बहती कही नही बातास,
कहाँ सिसक मृदु मलिन मर्म में
मुरझा जाता वह निश्वास ?
कहाँ छलकते अब वैसे हो
व्रज-नागरियो के गागर ?
कहाँ भीगते अब वैसे ही
बाहु, उरोज, अधर, अम्बर ?
बँधा बाहुओ मे घट क्षण-क्षण
कहाँ प्रकट बकता अपवाद ?
अलको को, किशोर पलको को
कहाँ वायु देती सम्वाद ?
कहाँ कनक-कोरो के नीरव,
अश्रु-कणो में भर मुस्कान,
विरह-मिलन के एक साथ ही
खिल पडते वे भाव महान !

कहाँ सूर के रूप-बाग के
दाडिम, कुन्द, विकच अरविन्द,
कदली, चम्पक, श्रीफल, मृगशिशु,
खजन, शुक, पिक, हस, मिलिन्द !
एक रूप में कहाँ आज वह
हरि मृग का निर्वैर विहार,
काले नागो से मयूर का
बन्धु - भाव सुख सहज अपार !

पावस की प्रगल्भ धारा में
कुजों का वह कारागार
अब जग के विस्मित नयनो में
दिवस-स्वप्न-सा पडा असार !

द्रव-नीहार अचल-अधरो मे
गल-गल गिरि-उर के सन्ताप
तेरे तट से अटक रहे थे
करते अब सिर पटक विलाप,
विवश दिवस के-से आवर्त्तन
बढते हैं अम्बुधि की ओर,
फिर-फिर-फिर भी ताक रहे है
कोरो मे निज नयन मरोर !

एक रागिनी रह जाती जो
तेरे तट पर मौन उदास,
स्मृति-सी भग्न भवन की, मन को
दे जाती अति क्षीण प्रकाश ।

टूट रहे हैं पलक-पलक पर
तारो के ये जितने तार
जग के अब तक के रागो से
जिनमे छिपा पृथक् गुजार,
उन्हे खीच निस्सीम व्योम की
वीणा मे कर कर झकार,
गाते हैं अविचल आसन पर
देवदूत जो गीत अपार,

कम्पित उनके करुण करो मे
तारक तारो की-सी तान
बता, बता, अपने अतीत के
क्या तू भी गाती है गान ?

१९२२ ई०

स्मृति

जटिल जीवन-नद में तिर-तिर
डूब जाती हो तुम चुपचाप,
सतत द्रुत गतिमयि अयि ! फिर-फिर,
उमड करती हो प्रेमालाप,

सुप्त मेरे अतीत के गान
सुना, प्रिय , हर लेती हो ध्यान !

सफल जीवन के सब असफल,
कही की जीत कहीं की हार,
जगा देता मधु-गीत सकल
तुम्हारा ही निर्मम झकार,

वायु-व्याकुल शतदल-सर हाय,
विकल रह जाता हूँ निरुपाय !

मुक्त शैशव मृदु-मधुर मलय,
स्नेह-कम्पित किसलय नवगात,
कुसुम अस्फुट नव नव सचय,
मृदुल वह जीवन कनक-प्रभात,

आज निद्रित अतीत में बन्द
ताल वह, गति वह, लय वह छन्द !

आँसुओं से कोमल झर-झर
स्वच्छ-निर्झर-जल-कण से प्राण
सिमट सट-सट अन्तर भर-भर
जिसे देते थे जीवन-दान,

वही चुम्बन की प्रथम हिलोर
स्वप्न - स्मृति, दूर, अतीत, अछोर !

पली मुख-वृन्तो की कलियाँ—
विटप उर की अवलम्बित हार—
विजन-मन-मुदित सहेलरियाँ—
स्नेह उपवन की सुख, शृगार,

आज खुल-खुल गिरती असहाय,
विटप वक्षस्थल ने निरुपाय !

मूर्ति वह यौवन की बढ़-बढ़—
एक अश्रुत भाषा की तान,
उमड चलती फिर-फिर 'अड-अड
स्वप्न-सी जड नयनो में मान;

मुक्त-कुन्तल, मुख व्याकुल लोल
प्रणय-पीडित वे अस्फुट बोल !

तृप्ति वह तृष्णा की अविकृत,
स्वर्ग आशाओं की अभिराम,
क्लान्ति की सरल मूर्ति निद्रित,
गरल की अमृत, अमृत की प्राण

रेणु वह किस दिगन्त में लीन
वेणु ध्वनि-सी न शरीराधीन !

सरल-शैशव-श्री सुख-यौवन
केलि अलि-कलियों की सुकुमार,
अशंकित नयन, अधर-कम्पन,
हरित - हित् - पल्लव - नव-शृंगार,

दिवस-द्युति छवि निरलस अविकार,
विश्व की वशसित छटा-विस्तार !

नियति-सन्ध्या में मूँदे सकल
वही दिनमणि के अगणित साज,
न हैं वे कुसुम, न वह परिमल
न है वे अधर, न है वह लाज !

तिमरि ही तिमिर रहा कर पार
लक्ष - वक्षस्थलार्गलित द्वार !

उषा - सी क्यों तुम कहो, द्विदल
सुप्त पलकों पर कोमल हाथ
फेरती हो ईप्सित मंगल,
जगा देती हो वही प्रभात !

वही सुख, वही भ्रमर-गुंजार,
वही मधु-गलित पुष्प-संसार !

जगत-उर की गत अभिलाषा,
शिथिल तन्त्री की सोई तान,
दूर विस्मृति की मृत भाषा,
चिता की चिरता का आह्वान,

जगाने में है क्या आनन्द ?
शृंखलित गाने में क्या छन्द ?

मुँदी जो छवि चलते दिन की
शयन-मृदु नयनों में सुकुमार,
मलिन जीवन-सन्ध्या जिनकी
हो रही हो विस्मृति में पार;

चित्र वह स्वप्नों में क्यों खींच
सुरा उनमें देती हो सींच ?

छिपी जो छवि, छिप जाने दो,
खोलते हुए तुम्हें क्यों चाव ?
दुखद वह झलक न आने दो,
हमें खेने भी तो दो नाव ?

हुए क्रमशः दुर्बल ये हाथ,
दूसरे और न कोई नाथ !

बँधे जीवों की बन माया,
फेरती फिरती हो दिन-रात,
दुख-सुख के स्वर की काया,
सुनाती है पूर्व-श्रुत बात,

जीर्ण जीवन का दृढ सस्कार
चलाता फिर नूतन ससार !

यही तो है जग का कम्पन—
अचलता में सुस्पन्दित प्राण—
अहकृति मे झकृति—जीवन—
सरस अविराम पतन-उत्थान

दया-भय - हर्ष - क्रोध - अभिमान
दु ख - सुख - तृष्णा - ज्ञानाज्ञान ।

रश्मि से दिनकर की सुन्दर,
अन्ध वारिद-उर मे तुम आप
तूलिका से अपनी रचकर
खोल देती हो हर्षित चाप,

उगा नव आशा का ससार
चकित छिप जाती हो उस पार !

पवन मे छिपकर तुम प्रतिपल,
पल्लवों में भर मृदुल हिलोर,
चूम कलियो के मुद्रित दल,
पत्र-छिद्रो मे गा निशि-भोर

विश्व के अन्तस्तल में चाह,
जगा देती हो तडित-प्रवाह ।

१६२१ ई०

ध्वनि

अभी न होगा मेरा अन्त ।
अभी अभी ही तो आया है
मेरे वन में मृदुल वसन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त ।

हरे हरे ये पात,
डालियाँ, कलियाँ कोमल गात ।

मैं ही अपना स्वप्न-मृदुल-कर
फेरूँगा निद्रित कलियों पर
जगा एक प्रत्यूष मनोहर ।

पुष्प-पुष्प से तन्द्रालस लालसा खींच लूँगा मैं,
अपने नव जीवन का अमृत सहर्ष सींच दूँगा मैं,

द्वार दिखा दूँगा फिर उनको
हैं मेरे वे जहाँ अनन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त ।
मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु
है जीवन ही जीवन ।
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन,
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन,
मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त ।

१६२२ ई०

अंजलि

बन्द तुम्हारा द्वार !
मेरे सुहाग-शृंगार !
द्वार यह खोलो— !
सुनो भी मेरी करुण पुकार ?
जरा कुछ बोलो !
हृदय-रत्न, मैं बडे यत्न से आज
कुसुमित कुंज-द्रुमों से सुरभित साज
संचित कर लाई, पर कब से वंचित !
ले लो, प्रिय ले लो, हार नही,
यह नही प्यार का मेरे,
कोई अमूल्य उपहार,—
नही कही भी है इसमे,
मेरा नाम निशान,
और मुझे क्यो होगा भी अभिमान ?
पर नही जानती, अगर सुमन-मन-मध्य,
समायी ही हो मेरी लाज,
माला के पडते ही विजय-हृदय पर
छीन ले तुमसे मेरा राज ।
कहो, मनोरथ-पथ का मेरे प्रियतम,
बन्द किया क्यो द्वार ?

सोते हुए तुम देखते हो स्वप्न ?—
या नन्दन-वन के पारिजात दल लेकर
तुम गूँथ रहे हो और किसी का हार ?
उस विहार में पड़े हुए तुम मेरा
यो करते हो परिहार ?
बिछे हुए थे काँटे उन गलियो में
जिनसे मैं चलकर आई—
पैरो मे छिद जाते जब
आह मार मैं तुम्हें याद करती तब
राह प्रीति की अपनी—वही कटकाकीर्ण,
अब मैंने तय कर पाई।

पडी अँधेरे के घेरे मे कब से
खडी सकुचित है कमलिनी तुम्हारी,
मन के दिनमणि, प्रेम-प्रकाश !
उदित हो जाओ, हाथ बढाओ,
उसे खिलाओ, खोलो प्रियतम द्वार,
पहन लो उसका यह उपहार,
मृदु-गन्ध परागो से उसके तुम कर दो
सुरभित प्रेम-हरित स्वच्छन्द
द्वेष-विष-जर्जर यह ससार।

१६२२ ई०

दीन

सह जाते हो
उत्पीडन की क्रीडा सदा निरकुश नग्न,
हृदय तुम्हारा दुर्बल होता भग्न,
अन्तिम आशा के कानो में
स्पन्दित हम सब के प्राणो मे
अपने उर की तप्त व्यथाएँ,
क्षीण कण्ठ की करुण कथाएँ
कह जाते हो
और जगत की ओर ताककर
दुख, हृदय का क्षोभ त्यागकर
सह जाते हो !
कह जाते हो—
"यहाँ कभी मत आना,
उत्पीडन का राज्य, दुख ही दुख
यहाँ है सदा उठाना,
क्रूर यहाँ पर कहलाते हैं शूर;
और हृदय का शूर सदा ही दुर्बल क्रूर;
स्वार्थ सदा रहता परार्थ से दूर,

धारा

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नही रुकती है,
यौवन-मद की बाढ नदी की
किसे देख झुकती है ?
गरज-गरज वह क्या कहती है, कहने दो—
अपनी इच्छा से प्रबल वेग से बहने दो ।
सुना, रोकने उसे कभी कुजर आया था,
दशा हुई फिर क्या उसकी ?—
फल क्या पाया था ?
तिनका-जैसा मारा-मारा
फिरा तरगो मे बेचारा—
गर्व गँवाया हारा ;
अगर हठ-वश आओगे,
दुर्दशा करावाओगे—बह जाओगे ।
देखते नही ?—वेग से लहराती है—
नग्न प्रलय का-सा ताण्डव हो रहा—
चाल कैसी मतवाली—लहराती है—
प्रकृति को देख, मीचती आँखे,
त्रस्त खडी है—थर्राती है ।
आज हो गए ढीले सारे बन्धन,
मुक्त हो गए प्राण,

रुका है सारा करुणा-क्रन्दन।
बहती कैसी पागल उसकी धारा!
हाथ जोड़कर खड़ा देखता दीन
विश्व यह सारा।
बड़े दम्भ से खड़े हुए ये भूधर
समझे थे जिसे बालिका
आज ढहाते शिला-खंड-चय देख
काँपते थर-थर—
शिला-खंड नर-मुंड-मालिनी कहते उसे कालिका।
छुटी लट इधर-उधर लटकी है,
श्याम वक्ष पर खेल रही हैं
स्वर्ण-किरण-रेखाएँ,
एक पर दृष्टि जरा अटकी है,
देखा एक कली चटकी है।
लहरों पर लहरों का चंचल नाच,
याद नहीं थी करती उसकी जाँच
अगर पूछता कोई तो वह कहती,
उसी तरह हँसती पागल-सी बहती,—
"नव जीवन की प्रबल उमंग,
जा रही मैं मिलने के लिए, पारकर सीमा,
प्रियतम असीम के संग।"

१९२१ ई०

आवाहन

एक बार बस और नाच तू श्यामा!
सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुझको हार?
कर-मेखला मुण्ड-मालाओं से बन मन-अभिरामा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा!
भैरवी भेरी तेरी झंझा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझसे पंजा,
लेगी खड्ग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा माँ

मैं अपनी अंजलि भर भर,
उँगली के पोरों में दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ!

एक बार बस और नाच तू श्यामा!
अट्टहास उल्लास-नृत्य का होगा जब आनन्द,
विश्व की इस वीणा के टूटेंगे सब तार,
बन्द हो जाएँगे ये जितने कोमल छन्द,
सिन्धु-राग का होगा तब आलाप,—

स्वप्न-स्मृति

आँख लगी थी पल भर,
देखा, नेत्र छलछलाए दो
आए आगे किसी अजाने दूर देश से चलकर।
मौन भाषा थी उनकी किन्तु व्यक्त था भाव,
एक अव्यक्त प्रभाव
छोड़ते थे करुणा का अन्तस्तल में क्षीण,
सुकुमार लता के वाताहत मृदु छिन्न पुष्प से दीन।
भीतर नग्न रूप था घोर दमन का
बाहर अचल धैर्य था उनके उस दुखमय जीवन का;
भीतर ज्वाला धधक रही थी सिन्धु-अनल की
बाहर थीं दो बूँदें—पर थी शान्त भाव में निश्चल—
विकल जलधि के जर्जर मर्मस्थल की।
भाव में कहते थे वे नेत्र निमेष-विहीन—
अन्तिम श्वास छोड़ते जैसे थोड़े जल में मीन,—
"हम अब न रहेंगे यहाँ, आह संसार?
मृगतृष्णा से व्यर्थ भटकना, केवल हाहाकार
तुम्हारा एकमात्र आधार;
हमें दुःख से मुक्ति मिलेगी,—हाँ, इतने दुर्बल हैं—
कर दो एक प्रहार!"

१९२२ ई०

विफल वासना

गूँथे तप्त अश्रुओ के मैंने कितने ही हार
बैठी हुई पुरातन स्मृति की मलिन गोद पर प्रियतम !
रुद्ध द्वार पर रक्खे थे मैंने कितने ही वार
अपने वे उपहार कृपा के लिए तुम्हारी अनुपम !
मेरे दग्ध हृदय का अतिशय ताप
प्रभाकर की उन खर किरणो मे,
नूपुर-सी मैं बजी तुम्हारे लिए,
तुम्हारी अनुरागिनियो के निष्ठुर चरणो मे।
हँसता हुआ कभी आया जब
वन मे ललित वसन्त
तरुण विटप सब हुए, लताएँ तरुणी,
और पुरातन पल्लव दल का
शाखाओ से अन्त,
जब बढी अर्घ्य देने को तुमको
हँसती वे वल्लरियाँ,
लिये हरे अचल मे अपने फूल,
एक प्रान्त मे खडी हुई मैं

देख रही थी स्वागत,
चुभते पर हाय नाथ !
मर्मस्थल में जो शूल,
तुम्हें कैसे प्रिय बतलाऊँ मैं ?
कैसे दुख-गाथा गाऊँ मैं ?
छिन्न प्रकृति के निर्दय आघातो से हो जाते हैं
जो पुष्प, नही कहते कुछ केवल रो जाते हैं,
वे अपना यौवन-पराग-मधु खो जाते हैं,
अन्तिम श्वास छोड पृथ्वी पर सो जाते हैं !
वैसे ही मैंने अपना सर्वस्व गँवाया,
रूप और यौवन-चिन्ता मे, पर क्या पाया ?
प्रेम ? हाय आशा का वह भी स्वप्न एक था
विफल-हृदय तो आज दुःख ही दुःख देखता !
तुम्हे कहूँ मैं, कहो, प्रेममय
अथवा दुख के देव, सदा ही निर्दय ?

१६२१ ई०

प्रपात के प्रति

अचल के चचल क्षुद्र प्रपात !
मचलते हुए निकल आते हो,
उज्ज्वल ! घन-वन-अन्धकार के साथ
खेलते हो क्यो ? क्या पाते हो ?
अन्धकार पर इतना प्यार,
क्या जाने यह बालक का अविचार
बुद्ध का या कि साम्य व्यवहार !
तुम्हारा करता है गतिरोध
पिता का कोई दूत अबोध—
किसी पत्थर से टकराते हो
फिर कर जरा ठहर जाते हो ,
उसे जब लेते हो पहचान—
समझ जाते हो उस जड का सारा अज्ञान,
फूट पडती है ओठो पर तब मृदु मुस्कान,
बस अजान की ओर इशारा करके चल देते हो,
भर जाते हो उसके अन्तर मे तुम अपनी तान ।

१६२१ ई०

सिर्फ़ एक उन्माद

सिर्फ़ एक उन्माद,
न था वह यौवन का अनुराग
किन्तु यौवन ही सा उच्छृंखल,
न चंचल शिशुता का अवसाद
किन्तु शिशु ही सा था वह चंचल,
न कोई पाया उनमें राग
जिसे गाते जीवन भर,
न कोई ऐसा तीव्र विराग
जिसे पा यहीं भूलते अपनापन यह क्षण भर।
अपने लिए घोर उत्पीडन,
किन्तु क्रीडनक था लोगों के लिए,
पक्षी का सा जीवन
हँसमुख किन्तु ममत्वहीन निर्दय वालों के लिए.
निर्लंकार कवित्व अनर्गल
किसी महाकवि-कलित-कण्ठ से
झरता था जैसे अविराम कुसुम-दल।
जन-अपवाद गूँजता था, पर दूर,
क्योंकि उसे कब फुर्सत-सुनता ?—था वह चूर।
न देखा उसमें कभी विषाद,
देखा सिर्फ़ एक उन्माद।

१९२२ ई०

प्रेयसी

घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मयि-लता-सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु-तन।
खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के,
प्रथम वसन्त मे गुच्छ-गुच्छ।
दृगो को रँग गई प्रथम प्रणय-रश्मि—
चूर्ण हो विच्छुरित
विश्व-ऐश्वर्य को स्फुरित करती रही
बहु रंग-भाव भर
शिशिर ज्यो पत्र पर कनक-प्रभात के,
किरण-सम्पात से।
दर्शन-समुत्सुक युवाकुल पतंग ज्यो
विचरते मंजु-मुख
गुंज-मृदु अलि-पुंज
मुखर-उर मौन वा स्तुति-गीत मे हरे।
प्रस्रवण झरते आनन्द के चतुर्दिक—
झरते अन्तर पुलकराशि से बार-बार
चक्राकार कलरव-तरंगो के मध्य मैं
उठी हुई उर्वशी-सी,
कम्पित प्रतनु-भार,
विस्तृत दिगन्त के पार प्रिय-बद्ध-दृष्टि
निश्चल अरूप मे।

हुआ रूप-दर्शन
जब कृतविद्य तुम मिले
विद्या को दृगों से,
मिला लावण्य ज्यों मूर्ति को मोहकर,—
शेफालिका को शुभ्र हीरक-सुमन-हार,—
शृंगार
शुचि दृष्टि मूक रस-सृष्टि को।
याद है, उषःकाल,—
प्रथम-किरण-कम्प प्राची के दृगों में,
प्रथम पुलक फुल्ल चुम्बित वसन्त की
मंजरित लता पर,
प्रथम विहग-बालिकाओं का मुखर स्वर—
प्रणय-मिलन-गान,
प्रथम विकच कलि वृन्त पर नग्न तनु
प्राथमिक पवन के स्पर्श से काँपती,
करती विहार
उपवन में मैं, छिन्न-हार
मुक्ता-सी निःसंग,
बहु रूप-रंग वे देखती, सोचती,
मिले तुम एकाएक,
देख मैं रुक गई—
चल पद हुए अचल,
आप ही अपल दृष्टि,
फैला समष्टि में खिंच स्तब्ध हुआ मन।
दिये नहीं प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गये।

दूर थी,
खिचकर समीप ज्यो मैं हुई
अपनी ही दृष्टि मे ;
जो था समीप विश्व,
दूर दूरतर दिखा ।
मिली ज्योति-छवि से तुम्हारी
ज्योति-छवि मेरी,
नीलिमा ज्यो शून्य से;
बँध कर मैं रह गयी ;
डूब गये प्राणो मे
पल्लव-लता-भार
वन-पुष्प-तरु-हार
कूजन-मधुर चल विश्व के दृश्य सब,—
सुन्दर गगन के भी रूप-दर्शन सकल—
सूर्य-हीरकधरा प्रकृति नीलाम्बरा,
सन्देश-वाहक बलाहक विदेश के
प्रणय के प्रलय मे सीमा सब खो गयी ।
बँधी हुई तुम से ही
देखने लगी मैं फिर
फिर प्रथम पृथ्वी को,
भाव बदला हुआ—
पहले घन-घटा वर्षण बनी हुई ,
कैसा निरजन यह अजन आ लग गया ।
देखती हुई सहज
हो गई मैं जड़ीभूत,
जगा देहज्ञान,

फिर याद गेह की हुई,
लज्जित
उठे चरण दूसरी ओर को—
विमुख अपने से हुई।
चली चुपचाप,
मूक सन्ताप हृदय में,
पृथुल प्रणय-भार।
देखते निमेषहीन नयनों से तुम मुझे
रखने को चिरकाल बाँधकर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप, अपनाने के लिए,
मर्त्य में स्वर्गसुख पाने के अर्थ, प्रिय,
पीने को अमृत अंगों से झरता हुआ।
कैसी निरखन दृष्टि।
सजल शिशिर-धौत पुष्प ज्यों प्रात में
देखता है एक टक किरण-कुमारी को।
पृथ्वी का प्यार, सर्वस्व, उपहार देता
नभ की निरुपमा को
पलकों पर रख नयन
करता प्रणयन, शब्द—
भावों में विशृंखल बहता हुआ भी स्थिर।
देकर दिया न ध्यान मैंने उस गीत पर
कुल-मान-ग्रन्थि में बँधकर चली गयी;
जीते संस्कार वे बद्ध संसार के—
उनकी ही मैं हुई।
समझ नहीं सकी, हाय,
बँधा सत्य अञ्चल में

खुलकर कहाँ गिरा ।
बीता कुछ काल,
देह-ज्वाला बढने लगी,
नन्दन-निकुज की रति को ज्यो मिला मरु,
उतर कर पर्वत से निर्झरी भूमि पर
पकिल हुई, सलिल-देह कलुषित हुआ ।
करुणा की अनिमेष दृष्टि मेरी खुली,
किन्तु अरुणार्क, प्रिय, झुलसाते ही रहे—
भर नही सके प्राण रूप-बिन्दु-दान से ।
तब तुम लघुपद-विहार
अनिल ज्यो बार-बार
वक्ष के सजे तार झकृत करने लगे
साँसो से, भावो से, चिन्ता से कर प्रवेश ।
अपने से उस गीत पर
सुखद मनोहर उस तान की माया मे
लहरो से हृदय की
भूल-सी मैं गयी
ससृति के दुख - घात,
श्लथ-गात, तुम मे ज्यो
रही मैं बद्ध हो ।
किन्तु हाय,
रूढि, धर्म के विचार,
कुल, मान, शील, ज्ञान,
उच्च प्राचीर ज्यो घेरे जो थे मुझे,
घेर लेते बार-बार,
जब मैं ससार मे रखती थी पदमात्र,

छोड रम्य-निस्सीम पवन-विहार मुक्त ।
दोनों हम भिन्न-वर्ण,
भिन्न-जाति, भिन्न-रूप,
भिन्न धर्म-भाव, पर
केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे ।
किन्तु दिन-रात का,
जल और पृथ्वी का
भिन्न सौन्दर्य से बन्धन स्वर्गीय है,
समझे यह नही लोग
व्यर्थ अभिमान के ।

अन्धकार था हृदय
अपने ही भार से झुका हुआ, विपर्यस्त ।
गृह-जन थे कर्म पर
मधुर प्रभात ज्यों द्वार पर आये तुम,
नीड़-सुख छोडकर मुक्त उडने को सग
किया आह्वान मुझे व्यग के शब्द मे ।
आई मैं द्वार पर सुन प्रियकठ-स्वर
अश्रुत जो बजता रहा था झकार भर
जीवन की वीणा मे,
सुनती थी मैं जिसे ।
पहचाना मैंने, हाथ बढ कर तुमने गहा ।
चल दी मैं मुक्त, साथ ।

एक बार की ऋणी
उद्धार के लिए,
शत बार शोध की उर मे प्रतिज्ञा की ।

पूर्ण मैं कर चुकी ।
गर्वित, गरीयसी अपने मे आज मै ।
रूप के द्वार पर
मोह की माधुरी
कितने ही बार पी मूर्च्छित हुए हो, प्रिय,
जागती मैं रही,
गह बाँह, बाँह मे भरकर सँभाला तुम्हे ।

वासन्ती की गोद मे तरुण,
सोहला स्वस्थ-मुख बालारुण,
चुम्बित, सस्मित, कुञ्चित, कोमल
तरुणियो सदृश किरणें चञ्चल,
किसलयो के अधर यौवन-मद
रक्ताभ, मञ्जु उडते षट्पद
खुलती कलियो से कलियो पर
नव आशा—नवल स्पन्द भर - भर,
व्यञ्जित सुख का जो मधु-गुञ्जन
वह पुञ्जीकृत वन-वन उपवन,
हेम-हार पहने अमलतास,
हँसता रक्ताम्बर वर पलास,
कुन्द के शेप पूजार्घ्यदान,
मल्लिका प्रथम-यौवन-शयान,
खुलते-स्तवको की लज्जाकुल
नतवदना मधुमाधवी अतुल,
निकला पहिला अरविन्द आज,

देखता अनिन्द्य रहस्य-साज,
सौरभ-वसना समीर बहती,
कानों में प्राणों की कहती,
गोमती क्षीण-कटि नटी नवल
नृत्य पर मधुर-आवेश-चपल ।
मैं प्रात पर्यटनार्थ चला
लौटा, आ पुल पर खड़ा हुआ,
सोचा—"विश्व का नियम निश्चल,
जो जैसा, उसको वैसा फल
देती यह प्रकृति स्वयं सदया
सोचने को न रहा कुछ नया
सौन्दर्य, गीत बहु वर्ण, गन्ध,
भाषा, भावों के छन्द-बन्ध,
और भी उच्चतर जो विलास,
प्राकृतिक दान वे, सप्रयास
या अनायास आते हैं सब,
सब में है श्रेष्ठ, धन्य मानव ।"
फिर देखा, उस पुल के ऊपर
बहु संख्यक बैठे हैं वानर ।
एक ओर पथ के, कृष्णकाय
कंकाल शेष नर मृत्यु-प्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल,
भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल,
अति क्षीण कण्ठ, है तीव्र श्वास,
जीता ज्यों जीवन से उदास ।
ढोता जो वह, कौन - सा शाप ?

भोगता कठिन, कौन सा पाप ?
यह प्रश्न सदा ही है पथ पर,
पर सदा मौन इसका उत्तर।
जो बड़ी दया का उदाहरण,
वह पैसा एक, उपायकरण।
मैंने झुक नीचे को देखा,
तो झलकी आशा की रेखा—
विप्रवर स्नान कर चढ़ा सलिल
शिव पर दूर्वादल, तण्डुल, तिल,
लेकर झोली आये ऊपर,
देखकर चले तत्पर वानर।
द्विज राम-भक्त, भक्ति की आस
भजते शिव को बारहो मास,
कर रामायण का पारायण
जपते हैं श्रीमन्नरायण,
दुख पाते जब होते अनाथ,
कहते कपियों से जोड़ हाथ,
मेरे पड़ोस के वे सज्जन,
करते प्रतिदिन सरिता-मज्जन,
झोली से पुए निकाल लिये,
बढ़ते कपियो के हाथ दिये।
देखा भी नही उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मैं—"धन्य, श्रेष्ठ मानव।"

१९३५ ई०

खँडहर के प्रति

खँडहर! खड़े हो तुम आज भी?
अद्भुत अज्ञात उन पुरातन के मलिन साज!
विस्मृति की नींद से जगाते हो क्यों हमें—
करुणाकर, करुणामय गीत सदा गाते हुए?
पवन-सञ्चरण के साथ ही
परिमल-पराग-सम अतीत की विभूति-रज—
आशीर्वाद पुरुष-पुरातन का
भेजते सब देशों में,
क्या है उद्देश तव?
बन्धन-विहीन भव!
ढीले करते हो भव-बन्धन नर-नारियों के?
अथवा,
हो मलते कलेजा पड़े, जरा जीर्ण,
निर्निमेष नयनों से
बाट जोहते हो तुम मृत्यु की
अपनी सन्तानों से बूँद भर पानी को तरसते हुए?
किम्वा, हे यशोराशि!
कहते हो आँसू बहाते हुए—
"आर्त भारत! जनक हूँ मैं
जैमिनि-पतञ्जलि-व्यास ऋषियों का
मेरी ही गोद पर शैशव-विनोद कर
तेरा है बढ़ाया मान
राम-कृष्ण-भीमार्जुन-भीष्म-नरदेवों ने।

तुमने मुख फेर लिया,
सुख की तृष्णा से अपनाया है गरल,
हो बसे नव छाया में,
नव स्वप्न ले जगे,
भूले वे मुक्त प्राण, साम-गान, सुधा-पान ।"
बरसो आशीष, हे 'पुरुष-पुराण,
तव चरणों में प्रणाम है ।

१९२३ ई०

नाचे उस पर श्यामा

फूले फूल सुरभि-व्याकुल अलि
गूंज रहे हैं चारो ओर
जगती-तल में सकल देवता
भरते शशि - 'मृदु-हँसी-हिलोर ।
गन्ध-मन्द-गति मलय पवन है
खोल रही स्मृतियो के द्वार,
ललित-तरग नदी-नद-सरसी,
चल-शतदल पर भ्रमर-विहार ।
दूर गुहा मे निर्झरिणी की
तान-तरगो का गुञ्जार,
स्वरमय किसलय-निलय विहगो
के बजते सुहाग के तार ।
तरुण-चितेरा अरुण बढा कर
स्वर्ण-तूलिका-कर सुकुमार
पट-पृथिवी पर रखता है जब
कितने वर्णो का आगार

धरा-अधर धारण करते हैं
रंग के रागों के आगार
देश-देश भाषा-जन-मन में
जगते कितने भाव उदार!
गरज रहे हैं मेघ, अगनि का
गूँजा घोर निनाद—प्रमाद,
स्वर्ग-धरा-व्यापी सागर का
छाया विकट ताण्डव-उन्माद
अन्धकार उद्गीरण करता
अन्धकार घन-घोर अपार
महाप्रलय की वायु सुनाती
श्वासों में अगणित हुंकार
इस पर चमक रही है रक्तिम
विद्युज्ज्वाला बारम्बार
फेनिल लहरें गरज चाहती
करना गिरि-शिखरों को पार,
भीम-घोष गम्भीर अनल धँस
टलमल करती धरा अधीर,
अनल निकलता छेद भूमितल,
चूर हो रहे अचल-शरीर।

हैं सुहावने मन्दिर कितने
नील-सलिल-सर - वीचि-विलास—
वलयित कुवलय, खेल खिलाती
मलय वनज-वन-यौवन-हास।
बढ़ा रहा है अंगूरों का

हृदय-रुधिर प्याले का प्यार
फेन-शुभ्र-सिर उठे बुलबुले
मन्द-मन्द करते गुञ्जार ।
बजती हैं श्रुति-पथ में वीणा,
तारों की कोमल झंकार
ताल-ताल पर चली बढ़ाती
ललित वासना का संसार ।
भावों में क्या जाने कितना
व्रज का प्रकट प्रेम उच्छ्वास
आँसू ढलते, विरह-ताप से
तप्त गोपिकाओं के श्वास,
नीरज-नील नयन, बिम्बाधर
जिस युवती के अति सुकुमार,
उमड़ रहा जिसकी आँखों पर
मृदु भावों का पारावार,
बढ़ा हाथ दोनों मिलने को
चलती प्रकट प्रेम-अभिसार,
प्राण-पखेरू, प्रेम-पींजरा,
बन्द, बन्द है उसका द्वार ।

भेरी झररर्-झरर, दमामे,
घोर नकारों की है चोप,
कड़-कड़-कड़ सन-सन् बन्दूकें,
अररर अररर अररर तोप,
धूम-धूम है भीम रणस्थल
शत-शत ज्वालामुखियाँ घोर

आग उगलती, दन दना दन
रंगा उठी भूतल के छोर।
फटते, लगते हैं छाती पर
घाती गोले गोलों वार
उड जाते हैं कितने हाथी,
कितने घोडे और सवार।
थर - थर पृथ्वी थर्राती है,
लाखों घोडे कस तैयार
करते, चढते, बढते-अडते
झुक पडते हैं वीर जुझार।
भेद धूम-तल—अनल, प्रबल दल
चीर गोलियों की बौछार,
घँस गोलों - ओलों में जाते
छीन तोप कर बेडी मार,
आगे - आगे फहराती है
ध्वजा वीरता की पहचान,
झरती धार—रुधिर दण्ड में
अडे - पडे पर वीर जवान,
साथ-साथ पैदल-दल चलता
रण - मद - मतवाले सब वीर,
छुटी पताका, गिरा वीर जब,
लेता पकड अपर रणधीर
पटे खेत अगणित लाशों से
कटे हजारों वीर जवान,
डटे लाश पर पैर जमाये,
हटे न वीर छोड मैदान।

देह चाहता है सुख - सगम,
चित्त-विहगम स्वर-मधु-धार,
हँसी - हिंडोला झूल चाहता
मन जाना दुख-सागर-पार !
हिम-शशाक का किरण-अग-सुख
कहो, कौन जो देगा छोड—
तपन - तप्त - मध्याह्न - प्रखरता
से नाता जो लेगा जोड ?
चण्ड दिवाकर ही तो भरता
शशधर में कर - कोमल - प्राण,
किन्तु कलाधर को ' ही देता
सारा विश्व प्रेम-सम्मान !
सुख के हेतु सभी हैं ,पागल,
दुख से किस पामर का प्यार ?
सुख में है दुख, गरल अमृत मे,
देखो, वता रहा ससार ।
सुख-दुख का यह निरा हलाहल
भरा कण्ठ तक सदा अधीर,
रोते मानव, पर आशा का
नही छोडते चञ्चल चीर !
रुद्र रूप से सव डरते हैं,
देख - देख भरते हैं आह,
मृत्युरूपिणी मुक्तकुन्तला
माँ की नही किसी को चाह !
उष्णधार उद्‌गार रुधिर का
करती है जो वारम्वार,

घूँट जहर के, लेती प्राण ।
रे उन्माद ! भुलाता है तू
अपने को, न फिराता दृष्टि
पीछे भय से, कही देख तू
भीमा महाप्रलय की सृष्टि ।
दुख चाहता, वता इसमे क्या
मरी नही है सुख की प्यास ?
तेरी भक्ति और पूजा में,
चलती स्वार्थ-सिद्धि की साँस ।
छाग-कण्ठ की रुधिर-धार से
सहम रहा तू, भय-सञ्चार !
अरे कापुरुष, वना दया का
तू आधार !—धन्य व्यवहार !

फोडो वीणा, प्रेम-सुधा का
पीना छोडो, तोडो, वीर,
दृढ आकर्षण है जिसमें उस
नारी-माया की जञ्जीर !
वढ जाओ तुम जलधि-ऊर्मि-से
गरज-गरज गाओ निज गान,
आँसू पीकर जीना, जाये
देह, हथेली पर लो जान ।
जागो वीर ! सदा ही सर पर
काट रहा है चक्कर काल,
छोडो अपने सपने, भय क्यो,
काटो, काटो यह भ्रम-जाल ।

दुख-भार इस भव के ईश्वर,
जिनके मन्दिर का दृढ़ द्वार!
जलती हुई चिताओं में है
प्रेत-पिशाचों का आगार,
सदा घोर संग्राम, छेदना
उनकी पूजा के उपचार,
वीर! डराये कभी न आये,
अगर पराजय सौ-सौ बार।
चूर-चूर हो स्वार्थ, साध, सब
मान हृदय हो महाश्मशान,
नाचे उस पर श्यामा, घन रण
में लेकर निज भीम कृपाण।

१९२४ ई०

स्वामी विवेकानन्दजी महाराज की सुविख्यात रचना 'नाचुक ताहाते श्यामा' का अनुवाद। स्वामीजी ने इसमें कोमल तथा कठोर भावों की वर्णना द्वारा कठोरता की सिद्धि दिखलायी है।

उक्ति

कुछ न हुआ, न हो
मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल
पास तुम रहो !
मेरे नभ के बादल यदि न कटे—
चन्द्र रह गया ढका,
तिमिर रात को तिरकर यदि न अटे
लेश गगन-भास का,
रहेंगे अधर हँसते, पथ पर, तुम
हाथ यदि गहो ।
बहु-रस साहित्य विपुल यदि न पढ़ा—
मन्द सबों ने कहा,
मेरा काव्यानुमान यदि न बढ़ा—
ज्ञान, जहाँ का रहा,
रहे, समझ है मुझमें पूरी, तुम
कथा यदि कहो ।

१९३७ ई०

मरण-दृश्य

गीत

कहा जो न, कहो !
नित्य-नूतन, प्राण, अपने
गान रच - रच दो !
विश्व सीमाहीन,
बाँधती जाती मुझे कर-कर
व्यथा से दीन !
कह रही हो—"दुःख की विधि—
यह तुम्हें ला दी नयी निधि,—
विहग के वे पंख बदले,—
किया जल का मीन,
मुक्त अम्बर गया, अब हो
जलधि जीवन को ।"
सकल साभिप्राय,
समझ पाया था नहीं मैं,
थी तभी यह हाय !
दिये थे जो स्नेह चुम्बन,
आज प्याले गरल के बन,
कह रही हो हँस—'पियो, प्रिय !
पियो, प्रिय, निरुपाय ।
मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
आई हुई, न डरो ।"

१९३९ ई०

मरण को जिसने वरा है

गीत

मरण को जिसने वरा है,
उसी ने जीवन भरा है ।
परा भी उसकी, उसी के,
अक सत्य यशोधरा है ।
सुकृत के जल से विसिञ्चित,
कल्प-किञ्चित विश्व-उपवन,
उसी की निस्तन्द्र चितवन
चयन करने को हरा है ।
गिरिपताक उपत्यका पर
हरित तृण से घिरी तन्वी
जो खड़ी है वह उसी की
पुष्पभरणा अप्सरा है ।
जब हुआ वञ्चित जगत में,
स्नेह से, आमर्ष के क्षण,
स्पर्श देती है किरण जो,
उसी की कोमल करा है ।

१९४२ ई०

गहन है यह अन्ध कारा

गीत

गहन है यह अन्ध कारा,
स्वार्थ के अवगुण्ठनों से
हुआ है लुण्ठन हमारा।
खड़ी है दीवार जड़ की घेर कर,
बोलते हैं लोग ज्यों मुँह फेरकर,
इस गगन में नहीं दिनकर,
नहीं शशधर, नहीं तारा।
कल्पना का ही अपार समुद्र यह,
गरजता है घेर कर तनु, रुद्र यह,
कुछ नहीं आता समझ में,
कहाँ है श्यामल किनारा।
प्रिय मुझे वह चेतना दो देह की,
याद जिससे रहे वञ्चित गेह की,
खोजता-फिरता न पाता हुआ,
मेरा हृदय हारा।

१९४२ ई०

स्नेह-निर्झर बह गया है

गीत

स्नेह-निर्झर बह गया है ।
रेत ज्यों तन रह गया है ।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—"अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—"
जीवन दह गया है ।
दिये हैं मैंने जगत को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल,
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल—
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है ।
अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा ।
बह रही है हृदय पर केवल अमा,
मैं अलक्षित हूँ, यही
कवि कह गया है ।

१९४२ ई०

सरोज-स्मृति

ऊनविंश पर जो प्रथम चरण
तेरा वह जीवन-सिन्धु-तरण,
तनये, ली कर दृक्पात् तरुण
जनक से जन्म की विदा अरुण !
गीते मेरी, तज रूप-नाम
वर लिया अमर शाश्वत विराम
पूरे कर शुचितर सपर्याय
जीवन के अष्टादशाध्याय,
चढ़ मृत्यु-तरणि पर तूर्ण-चरण
कह—"पितः, पूर्ण - आलोक - वरण
करती हूँ मैं , यह नहीं मरण,
'सरोज' का ज्योति शरण—तरण !'—

अशब्द अधरों का सुना भाष,
मैं कवि हूँ, पाया है प्रकाश
मैंने कुछ, अहरह रह निर्भर
ज्योतिस्तरणा के चरणों पर ।
जीवित - कविते, शत - शर - जर्जर
छोड़ कर पिता को पृथ्वी पर
तू गई स्वर्ग , क्या यह विचार—
"जब पिता करेंगे मार्ग पार
यह, अक्षम अति, तब मैं सक्षम,
तारूँगी कर गह दुस्तर तम ?—"

कहता तेरा प्रयाण सविनय,—
कोई न था अन्य भावोदय।

श्रावण - नभ का स्तब्धान्धकार
शुक्ला प्रथमा, कर गई पार!
धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका!
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित-काय
लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ - समर।
शुचिते, पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझे अत: दधिमुख।
क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मैं रख न सका वे दृग विपन्न,
अपने आँसुओं अत: बिम्बित
देखे हैं अपने ही मुख-चित।

सोचा है नत हो बार - बार—
"यह हिन्दी का स्नेहोपहार,
यह नहीं हार मेरी, भास्वर
यह रत्नहार - लोकोत्तर वर।"—
अन्यथा, जहाँ है भाव शुद्ध
साहित्य कला - कौशल प्रबुद्ध,
हैं दिये हुए मेरे प्रमाण
कुछ वहाँ, प्राप्ति को समाधान

पार्श्व मे अन्य रण कुशल हस्त
गद्य मे पद्य मे समाभ्यस्त ।—

देखें वे, हँसते हुए प्रवर,
जो रहे देखते सदा समर,
एक साथ जब शत घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण,
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर - क्षेप, वह रण - कौशल ।
व्यक्त हो चुका चीत्कारोत्कल
क्रुद्ध युद्ध का रुद्ध - कण्ठ फल ।
और भी फलित होगी वह छवि,
जागे जीवन - जीवन का रवि,
लेकर कर - कर कल तूलिका कला,
देखो क्या रँग भरती विमला,
वाञ्छित उस किस लाञ्छित छवि पर
फेरती स्नेह की कूची भर ।

अस्तु मैं उपार्जन को अक्षम
कर नहीं सका पोषण उत्तम
कुछ दिन को, जब तू रही साथ ।
अपने गौरव से झुका माथ,
पुत्री भी, पिता - गेह मे स्थिर,
छोड़ने के प्रथम जीर्ण अजिर ।
आँसुओं सजल दृष्टि की छलक
पूरी न हुई जो रही कलक

प्राणो की प्राणो मे दब कर
कहती लघु-लघु उसाँस मे भर,
समझता हुआ मैं रहा देख,
हटती भी पथ पर दृष्टि टेक।
तू सवा साल की जब कोमल
पहचान रही ज्ञान मे चपल
माँ का मुख, हो चुम्बित क्षण-क्षण
भरती जीवन मे नव जीवन,
वह चरित पूर्ण कर गई चली
तू नानी की गोद जा पली।
सब किये वही कौतुक विनोद
उस घर निशि-वासर भरे मोद,
खाई भाई की मार विकल
रोई ,उत्पल - दल - दृग - छलछल,
चुमकारा फिर उसने निहार,
फिर गगा - तट - सैकत - विहार
करने को लेकर साथ चला,
तू गहकर चली हाथ चपला;
आँसुओ धुला मुख हासोच्छल,
लखती प्रसार वह ऊर्मि-धवल।
तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि-जीवन मे व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छन्द
पर - सम्पादकगण निरानन्द
वापस कर देते पढ सत्वर।
दे एक-पक्ति-दो मे उत्तर।

लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन-गुन कर
सम्पादक के गुण, यथाभ्यास
पास की नोचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर - उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर
याद है दिवस की प्रथम धूप
थी पड़ी हुई तुझ पर सुरूप,
खेलती हुई तू परी चपल,
मैं दूरस्थित प्रवास से चल
दो वर्ष बाद, होकर उत्सुक
देखने के लिए अपने मुख
था गया हुआ, बैठा बाहर
आँगन में फाटक के भीतर,
मोढ़े पर ले, कुण्डली हाथ
अपने जीवन की दीर्घ - गाथ।
पढ़ लिखे हुए शुभ दो विवाह
हँसता था, मन में बढ़ी चाह
खण्डित करने को भाग्य - अंक,
देखा भविष्य के प्रति अशंक।

इससे पहिले आत्मीय स्वजन
सस्नेह कह चुके थे, जीवन

सुखमय होगा, विवाह कर लो
जो पढ़ी लिखी हो—सुन्दर हो।
आये ऐसे अनेक परिणय,
पर विदा किया मैंने सविनय
सबको, जो अड़े प्रार्थना भर
नयनों में, पाने को उत्तर
अनुकूल उन्हें जब कहा निडर—
'मैं हूं मंगली,' मुड़े सुनकर।
इस बार एक आया विवाह
जो किसी तरह भी हतोत्साह
होने को न था, पड़ी अड़चन,
आया मन में] भर आकर्षण
उन नयनों का। सासु ने कहा—
"वे बड़े भले जन हैं, भय्या,
एन्ट्रेन्स पास है लड़की वह,
बोले मुझसे—'छब्बिस ही तो
वर की है उम्र, ठीक ही है,
लड़की भी अट्ठारह की है।'
फिर हाथ जोड़ने लगे, कहा—
'वे नहीं कर रहे ब्याह अहा,
हैं सुधरे हुए बड़े सज्जन!
अच्छे कवि, अच्छे विद्वज्जन!
हैं बड़े नाम उनके! शिक्षित
लड़की भी रूपवती, समुचित
आपको यही होगा कि कहें
हर तरह उन्हें, वर सुखी रहें।'

लायेंगे कल।" दृष्टि थी शिथिल,
आई पुतली तू खिल-खिल-खिल
हँसती, मैं हुआ पुन चेतन
सोचता हुआ विवाह-बन्धन।
कुण्डली दिखा बोला—"ए—लो"
आई तू, दिया, कहा—"खेलो !"
कर स्नान-शेष, उन्मुक्त-केश
सासुजी रहस्य-स्मित सुवेश
आईं करने को बातचीत
जो कल होनेवाली, अजीत,
संकेत किया मैंने अखिन्न
जिस ओर कुण्डली छिन्न-भिन्न;
देखने लगीं वे विस्मय भर
तू बैठी सञ्चित टुकड़ों पर।

धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुञ्ज-तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार थर-थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकोश नव वीणा पर
नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द-मन्द
फूटी ऊषा जागरण छन्द
काँपी भर निज आलोक-भार,
काँपा वन, काँपा दिक् प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल—

नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल
क्या दृष्टि ! अतल की सिक्त-धार
ज्यों भोगावती उठी अपार,
उमडता ऊर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील - नील,
पर बँधा देह के दिव्य बाँध,
छलकता दृगों से साध - साध।
फूटा कैसा प्रिय कण्ठ - स्वर
माँ की मधुरिमा व्यञ्जना भर
हर पिता - कण्ठ की दृप्त - धार
उत्कलित रागिनी की बहार।
बन जन्मसिद्ध गायिका, तन्वि,
मेरे स्वर की रागिनी वह्नि
साकार हुई दृष्टि मे सुघर,
समझा मैं क्या सस्कार प्रखर।
शिक्षा के बिना बना वह स्वर
है, सुना न अब तक पृथ्वी पर।
जाना बस, पिक - बालिका प्रथम
पल अन्य नीड मे जब सक्षम
होती उड़ने को, अपना स्वर
भर करती ध्वनित मौन प्रान्तर।
तू खिंची दृष्टि मे मेरी छवि,
जागा उर मे तेरा प्रिय कवि,
उन्मनन - गुञ्ज सज हिला कुञ्ज
तरु - पल्लव कलिदल पुञ्ज - पुञ्ज
बह चली एक अज्ञात वात

चूमती केश—मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक - नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन ।

सासु ने कहा लख एक दिवस—
"भैया अब, नहीं हमारा बस,
पालना - पोसना रहा काम,
देना 'सरोज' को 'धन्य - धाम'
शुचि वर के कर, कुलीन लखकर,
है काम तुम्हारा धर्मोत्तर,
अब कुछ दिन इसे साथ लेकर
अपने घर रहो ढूंढकर वर
जो योग्य तुम्हारे, करो व्याह
होंगे सहाय हम सहोत्साह ।"
सुनकर, गुनकर चुपचाप रहा,
कुछ भी न कहा,—न अहो, न अहा,
ले चला साथ मैं तुझे कनक
ज्यों भिक्षुक लेकर, स्वर्ण - झनक
अपने जीवन की, प्रभा विमल
ले आया निज गृह - छाया - तल ।
सोचा मन मे हत बार - बार—
"ये कान्यकुब्ज - कुल कुलागार,
खाकर पत्तल मे करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद,
इस विषय बेलि मे विष ही फल,
यह दग्ध मरुस्थल—नहीं सुजल ।"

फिर सोचा—"मेरे पूर्वजगण
गुजरे जिस राह, वही शोभन
होगा मुझको, यह लोक-रीति
कर दूँ पूरी, गो नही भीति
कुछ मुझे तोडते गत विचार
पर पूर्ण रूप प्राचीन भार
ढोते मैं हूँ अक्षम, निश्चय
आयेगी मुझमे नही विनय
उतनी जो रेखा करे पार
सौहार्द-बन्ध की निराधार।

वे जो यमुना के-से कछार
पद फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यो, पिये तेल
चमरौधे जूते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर-गन्ध,
उन चरणो को मैं यथा अन्ध,
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूं, ऐसी नही शक्ति।
ऐसे शिव से गिरिजा विवाह
करने की मुझको नही चाह।"
फिर आई याद—"मुझे सज्जन
है मिला प्रथम ही विद्वज्जन
नवयुवक एक, सत्साहित्यिक,
कुल कान्यकुब्ज, यह नैमित्तिक
होगा कोई इंगित अदृश्य

मेरे हित है हित यही स्पृश्य
अभिनन्दनीय।" बँध गया भाव,
खुल गया हृदय का स्नेह-स्राव,
खत लिखा, बुला भेजा तत्क्षण,
युवक भी मिला प्रफुल्ल, चेतन।
बोला मैं—"मैं हूँ रिक्त-हस्त
इस समय, विवेचन में समस्त—
जो कुछ है मेरा अपना धन
पूर्वज से मिला, करूँ अर्पण
यदि महाजनों को तो विवाह
कर सकता हूँ, पर नहीं चाह
मेरी ऐसी, दहेज देकर
मैं मूर्ख बनूँ, यह नहीं सुघर,
बारात बुला कर मिथ्या-व्यय
मैं करूँ नहीं ऐसा सुसमय।
तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम,
लग्न के; पढ़ूँगा स्वयं मन्त्र
यदि पण्डितजी होंगे स्वतन्त्र।
जो कुछ मेरे, वह कन्या का,
निश्चय समझो, कुल धन्या का।"

आये पण्डितजी, प्रजावर्ग,
आमन्त्रित साहित्यिक, ससर्ग
देखा विवाह आमूल नवल,
तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल।

देखती मुझे तू हँसी मन्द,
होठो मे बिजली फँसी स्पन्द
उर मे भर झूली छवि सुन्दर,
प्रिय की अशब्द शृंगार - मुखर
तू खुली एक - उच्छ्वास - सग,
विश्वास - स्तब्ध बँध अग - अग,
नत नयनो से आलोक उतर
काँपा अधरो पर थर - थर - थर।
देखा मैंने, वह मूर्ति - धीति
मेरे वसन्त की प्रथम गीति—
शृंगार, रहा जो निराकार,
रस कविता मे उच्छ्वसित - धार
गाया स्वर्गीया - प्रिया - सग—
भरता प्राणो मे राग - रग,
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदल कर बना मही।
हो गया व्याह आत्मीय स्वजन
कोई थे नही, न आमन्त्रण
था भेजा गया, विवाह - राग
भर रहा न घर निशि-दिवस जाग,
प्रिय मौन एक सगीत भरा
नव जीवन के स्वर पर उतरा।
माँ की कुल शिक्षा मैंने दी,
पुष्प-सेज तेरी स्वय रची,
सोचा मन मे, "वह शकुन्तला,
पर पाठ अन्य यह अन्य कला।"

कुछ दिन रह गृह तू फिर समोद,
बैठी नानी की स्नेह - गोद।
मामा - मामी का रहा प्यार,
भर जलद धरा को ज्यो, अपार,
वे ही सुख - दुख मे रहे न्यस्त,
तेरे हित सदा समस्त, व्यस्त,
वह लता वहीं की, जहाँ कली
तू खिली, स्नेह मे हिली, पली,
अन्त भी उसी गोद मे शरण
ली,] मूँदे दृग वर महामरण!
मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल
युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज, जो नही कही!
हो इसी कर्म पर वज्रपात
यदि धर्म रहे नत सदा माथ
इस पथ पर मेरे कार्य सकल
हो भ्रष्ट शीत के - से [शतदल!
कन्ये, गत कर्मों का अर्पण
कर करता मैं तेरा [तर्पण]!

१९३५ ई०

भाव जो छलके पदों पर

गीत

भाव जो छलके पदों पर,
न हों हल्के, न हों नश्वर।

चित्त चिर-निर्मल करे वह,
देह-मन शीतल करे वह,
ताप सब मेरे हरे वह
नहा आई जो सरोवर।

गन्धवह है धूप मेरी
हो तुम्हारी प्रिय चितेरी,
आरती की सहज फेरी
रवि, न कम कर दे कहीं कर।

१६३६ ई०

दलित जन पर करो करुणा

गीत

दलित जन पर करो करुणा।
दीनता पर उतर आये
प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरुणा।

हरे तन-मन प्रीति पावन,
मधुर हो मुख मनोभावन,
सहज चितवन पर तरंगित
हो तुम्हारी किरण तरुणा।

देख वैभव न हो नत सिर,
समुद्धत मन सदा हो स्थिर
पार कर जीवन निरन्तर
रहे बहती भक्ति-वरुणा।

१६३६ ई०

हुए भाव, मानव न रहे करुणा से वञ्चित,
फूटे शत-शत उत्स सहज मानवता-जल के
यहाँ वहाँ पृथ्वी के सब देशों में छलकें,
छलके, वल के पंकिल मौतिक रूप अदर्शित
हुए तुम्हीं से, हुई तुम्हीं से ज्योति प्रदर्शित।
१९४० ई०

सुन्दर हे, सुन्दर

सुन्दर हे, सुन्दर !
दर्शन से जीवन पर
बरसे अविनश्वर स्वर।

परसे ज्यों प्राण,
फूट पड़ा सहज गान,
तान-सुरसरिता वही
तुम्हारे मंगल-पद छूकर।

उठी है तरंग,
बहा जीवन निस्संग,
चला तुमसे मिलने को
खिलने को फिर फिर भर-भर।
१९३९ ई०

जन-जन के-जीवन के सुन्दर

गीत

२७

जन-जन के जीवन के सुन्दर
हे चरणो पर
भाव-भरण भर
दूं तन-मन-धन न्योछावर कर।

दाग-दगा की
आग लगा दी
तुमने जो जन-जन की, भड़की ,
करूँ आरती मैं जल-जल कर।

गीत जगा जो
गले लगा लो,
हुआ गैर जो, सहज सगा हो,
करे पार जो है अति दुस्तर।

१६३६ ई०

जलाशय के किनारे कुहरी थी

जलाशय के किनारे कुहरी थी;
हरे-नीले पत्तों का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आई हुई,
गहरे अंधकार का डेरा था,
किनारे सुनसान थे, जुगनू के
दल दमके—यहाँ-वहाँ चमके,
वन का परिमल लिये मलय बहा,
नारियल के पेड़ हिले क्रम से,
नाद भरे ताड़ रहे थे मर्मरों,
पपीहा पुकार रहा था छिपा,
स्यार निकलते थे आगम में,
उजाला हो गया और तारा छिपा,
लहरें उठतीं थीं सरोवर में,
मन पलटता था अन्तर में।

१६४३ ई०

धूलि में तुम मुझे भर दो

धूलि मे तुम मुझे भर दो ।

धूलि-धूसर जो हुए पद
उन्ही के वर वरण कर दो ।

दूर हो अभिमान, सशय,
वर्ण-आश्रम-गत महाभय
जाति-जीवन हो निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो ।

फूल जो तुमने खिलाया
सदल क्षिति मे ला मिलाया,
भरण से जीवन दिलाया
सुकर जो वह मुझे वर दो ।

१९४० ई०

देवी सरस्वती

मानव का मन विश्व-जलधि, आत्मा सित शतदल,
विकच दलों पर अधर सुहाये सुघर चरणतल,
वीणा दो हाथों मे, दो मे पुस्तक-नीरज,
जादू के जीवन के शोभन स्वर जैसे स्रज।
नील वसन, शुभ्रतर ज्योति से खिला हुआ तन,
एक तार से मिला चराचर से शाश्वत मन।
हंस चरण-तल तैर रहा है लघूर्मियों पर
सुनता हुआ तीव्र-मृदु-झंकृत वीणा के स्वर।
साम-गीत गाये आर्यों ने तुम्हें मानकर,
किया समाहित चित्त ज्ञान-घन तुम्हें जानकर,
एक तुम्हारी अर्चा सहज ऋचाओं से की,
चरणों पर पुष्पों की माला की अञ्जलि दी।
सकल निरंकुश देवी तुम आर्यों की, विमले,
कौन विश्व में जो सकाम जीवन मे क्रम ले?
शुभ्रे, फूल रंगों की, रागों की, शब्दों की,
नित्य-नवीना हो वन्दित यद्यपि अब्दों की।

शरत पकजो से, खञ्जन नयनो से प्रक्षण,
हरसिंगार के हार विश्व के द्वार प्रतीक्षण,
नमित शालि से भरी हुई, सुन्दर-वन-वसना,
श्वेत-शशिमुखी जगती पर मधुराधर-हसना।
कृषको की आशा से, श्रम से, जीवन-सम्बल,
घन से, धारा से, धान्य से, धरा का कृषि-फल।
सिमटा पानी खेतो का, ओट पर चले हल,
पाँसे खेत किये जो गये जोतकर मखमल,
डाले बीज चने के, जव के और मटर के,
गेहूँ के, अलसी-राई-सरसो के, कर से,
ऐसे वाह-वाह की वीणा बजी सुहाई,
पौधो की रागिनी सजीव सजी सुखदाई,
सुख के आँसू दुखी किसानो की जाया के
भर आये आँखो मे खेती की माया से।
हरी भरी खेतो की सरस्वती लहराई,
मग्न किसानो के घर उन्मद बजी बधाई।
खुली चाँदनी मे डफ और मँजीरे लेकर
बैठे गोल बाँधकर लोग बिछे खेसो पर,
गाने लगे भजन कबीर के, तुलसिदास के,
धनुष-भग के और राम के वनोवास के।
कतकी मे गगा नहान की बढी उमगें
सजी गाडियाँ, चले लोग, मन चढती चगें।
मेले मे खेती के कुछ सामान खरीदे,
देखे हाथी घोडे-रव्वे, लौटे सीधे।

आज [illegible] पार कर रहा है गृह-जीवन।
उनको दिखा रही जो तारे टूट रहे हैं,
पत्तों से डाल के सहारे छूट रहे हैं।
जीवन फिर दूना उन्हें पल्लवित करेगा,
फिर भी अन्त में अन्न-वस्त्र के दुख हरेगा।
जमींदार की बनी, महाजन धनी हुए हैं,
जग के मूर्त पिशाच धूर्त गण गनी हुए हैं।
विश्वरूपिणी तुम हो, तुम्हें मूर्ति में रचकर
पूजा की वसन्त के दिन दीनता-विकच-कर,
गीत और वाद्य में बड़ी सामाजिकता की,
फूलों की अञ्जलि दी , गगा की सिकता की

वेदी रची, मन्त्र पढ़कर घृत-यव लेकर कर
किया हवन स्वस्त्ययन, विसर्जन अन्तिम सुन्दर।

नव पल्लवित वसन्त धरा पर आया सुखकर
फूटी तुम नव-किसलय-दल से वृन्त-वृन्त पर;
कूजित-पिक-उर-मधुर-कण्ठ, कुण्ठा सब टूटी
मुक्त समीरण से धीरता धरा की छूटी।
पके खेत सोने के जैसे अञ्चल लहरे,
नव मनोज के मनोभाव लोगों मे घहरे।
प्रतिसन्ध्या समवेत हुए ग्रामीण सभ्यजन
ढोलक और मँजीरे पर करते हैं गायन।
फाग हो रहा—उठा रहे हैं धुन धमार की,
होली, चैती, लेज गा रहे हैं सुतार की।
बौरे आमो की सुगन्ध धरती पर छाई,
नये वर्ष का हर्ष भरा चाँदनी सुहाई।
रवी कटी, आम के तले खलिहान लगाया,
चना, मटर, यव, गेहूँ, सरसों कटकर आया।
पड़ी चारपाई जिस पर बैठा तकवाहा
चूल्हा वहीं कहीं लगवाया जिसने चाहा
जरा दूर मेड़ के किनारे। जैसे बस्ती
बनी, लगे खलिहान, सुवेशा कोई मस्ती।

ग्रीष्म तापमय, लू की लपटों की दोपहरी
झुलसाती किरणों की, वर्षों की आ ठहरी,
तुम हो शीतल कूप-सलिल, जामुन-छाया-तल,
बड़े आम के बागों मे जीवन का सम्बल।

राम-राज्य की रामायण दुख की गाथा से
पूरी हुई, सँभाले जैसे स्वर भाषा के
अधिक मनोहर, वीर-जाति के चित्र सुघरतर
वृक्ष-त्वचा से खुले हुए, मृदु मृदु वल्कल पर
खिली सभ्यता। महाभारतीया कुछ बदली,
जैसे भिन्न रूप की, भिन्न गन्ध की कदली,
सीता और द्रौपदी, अर्जुन और राम से,

एक ओर बहुपत्तियों के व्रत और काम से।—
भारत की प्रान्तीय सभ्यता का आलेखन,
राजनीति का जीवन, जगती का सम्मोहन।
श्री-समृद्धि का कालिदास मे अमृतास्वादन,
साहित्यिकता मे धार्मिकता का संवादन।
हर्ष प्रौढ़ता की पीढ़ी, कवि-कम्बु स्वयम्भू,
रामायण के मौलिक, प्राकृत-शम्भु स्वयम्भू,
शताब्दियों तक रामायण के कविर्मनीषी
श्री तुलसी तक सहस्राब्दि के रविर्मनीषी।
उसी छन्द मे उसी प्रकार किया है अन्तर
तुलसिदास ने महाकाव्य लिखकर मन्वन्तर।
भक्ति भावना मे रचना आलोक-समन्वित
हुई उसी स्वाधीन चेतना से उत्कल चित।
सूरदास के गीत, रसो के स्रोत निरन्तर,
फूटी सरिताएँ, उमडा शतधर से सागर।
मीरा की मानसी गीतिका सहृदयता की
छवि से भरी हुई, निरवधि कलियों की राखी।
ज्ञानालोक विकीर्ण हुआ कबीर से, निर्झर
फूटे कितने, ज्ञानदास के, दादू के स्वर।
तुम्हीं चिरन्तन जीवन की उन्नायक, भविता,
छवि विश्व की मोहिनी, कवि की सनयन कविता।

१९४२ ई०

जागा जागा संस्कार प्रबल,
रे गया, कान तत्क्षण वह जल,
देखा, वामा वह न थी, अनल-प्रतिमा वह,

इस ओर ज्ञान, उस ओर ज्ञान,
हो गया मस्त वह प्रथम भान,
छूटा जग का जो रहा ध्यान, जड़िमा वह।

देखा शारदा नील-वसना,
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रसना,
जीवन - समीर - शुचि - निःश्वसना, वरदात्री,

वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर,
फूटी तर अमृताक्षर - निर्झर,
यह विश्व हंस, हैं चरण सुघर जिन पर श्री।

दृष्टि से भारती की बँध कर
कवि उठता हुआ चला ऊपर,
केवल अम्बर—केवल अम्बर फिर देखा ;

धूमायमान वह घूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र शशि-ताराहर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर रेखा।

बाजी बहती लहरें कलकल,
जागे भावाकुल शब्दोच्छल,
गूँजा जग का कानन-मंडल, पर्वत-तल,

सूना उर ऋषियों का ऊना
सुनता स्वर, हो हर्षित, दूना,
आसुर भावों से जो भूना था निश्चल ।

"जागो जागो, आया प्रभात,
बीती वह, बीती अन्ध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल,

बाँधो, बाँधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन,
आती भारत की ज्योतिर्घन महिमाबल ।

होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासर,
कवि का प्रति छवि से जीवनहर, जीवनभर,

भारती इधर है उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल,
जय, इतर ईश है उधर सबल माया-कर ।

"दिन-रात के पार के तिमिर पार
यह जागा रवि अभेद-छविधर
इनका स्वर भर भारती मुखर होएँगी,

निश्चेतन, निज तन मिला विकल,
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएँगी।

"तम के अमार्ज्य रे तार-तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश-धार;
जग-वीणा के स्वर के बहार रे, जागो,

इस कर अपने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान—
दे गीत विश्व को रुको, दान फिर माँगो।"

क्या हुआ कहाँ, कुछ नहीं सुना,
कवि ने निज मन भाव में गुना,
साधना जगी केवल अधुना प्राणों की,

देखा सामने, मूर्ति छल-छल
नयनों में छलक रही अचपल,
उपमिता न हुई समुच्च सकल तानों की।

जगमग जीवन का अन्त्य भाष—
"जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का

मेरा उनसे गृह के भीतर,
देखूँगा नहीं कभी फिर कर,
लेता मैं जो वर जीवन-भर बहने का।"

चल मन्द चरण आये बाहर,
उर में परिचित वह मूर्ति सुघर
जागी विश्वाश्रय महिमाधर, फिर देखा—

संकुचित, खोलती श्वेत पटल,
बदली, कमला तिरती सुख-जल,
प्राची-दिगन्त-उर में पुष्कल रवि-रेखा।

१९३८ ई०

सहस्राब्दि

[illegible]

यह महावीर विक्रमादित्य का अभिनन्दन,
यह प्रजाजनों का आवर्तित स्पन्दन-वन्दन,
यह सजी हुई गन्धों से अपरूप कामिनियाँ,
करतीं वर्षित लाजों की अञ्जलि भामिनियाँ,
तोरण-तोरण पर
जीवन को यौवन से भर
उठता सम्वर

मालकौश हर
नश्वरता को नवस्वरता दे करता भास्वर
ताल-ताल पर
नागों का बृंहण, अश्वों की हेषा
भर भर
रथ का घर्घर,
घण्टों की घन-घन
पदातिकों का उन्मद-पद पृथ्वी-मर्दन ।

आ रही याद
तूलिका नारियों के चित्रण की निरपवाद,
ब्राह्मण-प्रतिमा का अप्रहितहत गौरव-विकास,
वर्णाश्रम की नव स्फुरित ज्योति, नूतन विलास,
कामिनी-वेश नव, नवल केश, नव-नव कबरी,
नव-नव बन्धन, नव-नव तरंग, नव-नवल तरी,
नव-नव वाहन-विधि, वाहित वनिता-जन नव-नव,
नव-नव चिन्तन, रचना नव-नव नव-नव उत्सव,
नर्तन, कटाक्ष, सम्बोधन नूतन उच्चारण,
नूतन प्रियता की प्रियतमता, समता नूतन,
संस्कृति नूतन, वस्तु-वास्तु-कौशल-कला नवल,
विज्ञान-शिल्प-साहित्य सकल नूतन-सम्बल,
पाली के प्रबल पराक्रम को संस्कृत-प्रहार,
कालिदास-वररुचि के समलंकृत रुचिर तार ।
कर रहा मनन
मैं शंकर का उत्थान, बौद्ध-धर्म का पतन—
जन-धर्म-वर्धन के हेतु वाम-पथ का चालन——

निष्कम्प, भाष्य प्रस्थानत्रयी पर, सस्थापन
भारत के चारों ओर मठों का सज्ञापन,
बौद्धों के दल का जीते ही वह दाहकरण,
जलकर तुषाग्नि में अपना प्रायश्चित्त-वरण
शंकर के शिष्यों का। मुझको आ रही याद
वह अस्थिरता जनता के जीवन की, विषाद
वह बड़ा पडितों में जैसे शंकर मत से—
अद्वैत-दार्शनिकता से हुए यथा हत से—
प्रच्छन्न बौद्ध ज्यों कहने लगे, वेदविधि के
कर्मकाण्ड के लोप से दुखी जन वे निधि के
प्रत्याशी, फल के कामी—दुर्गति-दैन्य दल-मल

चाहते देव से श्री, शोभा, विभूति, सम्बल।
ऐसे सांसारिक जनों के लिए ज्यों जीवन
आये रामानुज, गृही चरित का आवर्तन
श्री-मुख से करकर किया भिन्न दर्शन देकर
रक्खा सक्षेप विशिष्ट नाम रखकर सुन्दर।
जो वैदिक ज्ञान, तथागत का निर्वाण वही,
जो धरा वही विचार-धारा की रही मही,
देश काल औ' पात्र के भेद से भिन्न वेद
प्रेम जो, हुआ ज्यों वही बदलकर प्रियच्छेद।
बौद्धों के ही प्रचार का फल जिस में फलित—
मूसा की प्रतिमा में बदला वह धर्म ललित,
फिर ईसा में आया दृढ परिवर्तन लेकर,
फिर हुआ मुहम्मद में जवानि नाम देकर
एक ही भिन्न नाम का प्रब[illegible]

अर्चना

गीत

तिमिरदारण मिहिर दरसो।
ज्योति के कर अन्ध कारा-
गार जग का सजग परसो।
खो गया जीवन हमारा,
अन्धता से गत सहारा,
गात के सम्पात पर उत्थान
देकर प्राण बरसो।
क्षिप्रतर हो गति हमारी,
खुले प्रति-कलि-कुसुम-क्यारी,
सहज सौरभ से समीरण पर
सहस्रों किरण हरसो।

१७-१-५७

*   *

गीत

आज प्रथम गाई पिक पञ्चम।
गूंजा है मरु विपिन मनोरम।
मरुत-प्रवाह, कुसुम-तरु फूले,
बौर-बौर पर भौंरे झूले,
पात-गात के प्रमुदित झूले,
छाई सुरभि चतुर्दिक उत्तम।
आँखों से बरसे ज्योति-कण,
परसे उन्मन-उन्मन उपवन,

खुला धरा का पराकृष्ट तन,
फूटा ज्ञान गीतमय सत्तम ।
प्रथम वर्ष की पाँख खुली है,
शाख-शाख किसलयों तुली है,
एक और माधुरी घुली है,
गीत-बन्ध-रस-वर्णों अनुपम ।

१५-१-५०

*   *   *

गीत

बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !
यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव बन्धु !

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सबकी सुनती थी, सहती थी,
देती थी सबके दाँव बन्धु !

२३-१-५०

*   *   *

गीत

तरणि तार दो ।
अपर पार को ।
खे-खेकर थके हाथ
कोई भी नहीं साथ

श्रम-सीकर भरा माथ,
बीच-धार, ओ!
पार किया तो कानन,
मुरझाया जो आनन
आओ हे निर्वारण,
विपत वार लो।
पड़ी भँवर-बीच नाव,
भूले हैं सभी दाँव,
रखना है नहीं गाँव,
सलिल-धार, ओ!

१०-७-५०

* *

गीत

मन मधु वन आली!
उन्मन तन की ज्योति तपन की
गगनघटा काली काली
दमकी सौदामिनी ग्राम में,
नूपुर-उर सुरधुनी धाम में,
रस रसना जो बजी नाम में,
यौवन वाली वाली।
सजी सुतनु नियंक तप-रेखा,
पविन-पविन पर अविजित लेखा,
सुरा दृगों से जिसने देखा,
तन-मन-धन पाली

१९४६ ई०

निराला जी की रचनाएं